ॐ सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥



करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

वर्ष १५ } आश्विन, २००५ { अङ्क १

संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५% कमीशन काटकर ४॥)]

सम्पादक तथा प्रकाशक—
पं० श्रीकृष्णपन्तशास्त्री साहित्याचार्य,
अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय, ललिताघाट, काशी।

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम् ,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन् ,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १९ } आश्विन, २००९ { अङ्क १

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

देवीस्तुतिः

देवि त्वमस्य जगतः किल कारणं हि ज्ञातं मया सकलवेदवचोभिरम्ब ॥
यद् विष्णुरप्यखिललोकविवेककर्ता निद्रावशं च गमितः पुरुषोत्तमोऽद्य ॥१॥
को वेद ते जननि मोहविलासलीलां मूढोऽस्म्यहं हरिरयं विवशश्च शेते ॥
ईदृक्तया सकलभूतमनोनिवासे विद्वत्तमो विबुधकोटिषु निर्गुणायाः ॥२॥
सांख्या वदन्ति पुरुषं प्रकृतिं च यां तां चैतन्यभावरहितां जगतश्च कर्त्रीम् ॥
किं तादृशाऽसि कथमत्र जगन्निवासश्चैतन्यताविरहितो विहितस्त्वयाऽद्य ॥३॥
नाट्यं तनोषि सगुणा विविधप्रकारं नो वेत्ति कोऽपि तव कृत्यविधानयोगम् ॥
ध्यायन्ति यां मुनिगणा नियतं त्रिकालं सन्ध्येति नाम परिकल्प्य गुणान् भवानि॥४॥
बुद्धिर्हि बोधकरणा जगतां सदा त्वं श्रीश्चासि देवि सततं सुखदा सुराणाम् ॥
कीर्तिस्तथा मतिधृती किल कान्तिरेव श्रद्धा रतिश्च सकलेषु जनेषु मातः ॥५॥
नाऽतः परं किल वितर्कशतैः प्रमाणं प्राप्तं मया यदिह दुःखगतिं गतेन ॥
त्वं चाऽत्र सर्वजगतां जननीति सत्यं निद्रालुतां वितरता हरिणाऽत्र दृष्टम् ॥६॥
त्वं देवि वेदविदुषामपि दुर्विभाव्या वेदोऽपि नूनमखिलार्थतया न वेद ॥
यस्मात्त्वदुद्भवमसौ श्रुतिराप्नुवाना प्रत्यक्षमेव सकलं तव कार्यमेतत् ॥७॥
कस्ते चरित्रमखिलं भुवि वेद धीमान् नाहं हरिर्न च भवो न सुरास्तथाऽन्ये ॥
ज्ञातुं क्षमाश्च मुनयो न ममात्मजाश्च दुर्वाच्य एव महिमा तव सर्वलोके ॥८॥

— देवीभागवतस्था

योगवासिष्ठ

अनुवादक— पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
एक सौ तीन सर्गका अवशिष्ट अंश	५२६३–५२८३
एक सौ चार सर्ग	
जैसे आकाश आदिकी वायु आदि रूपता अनुभवसे सिद्ध है वैसे ही चित्‌की ही अनुभवतः जगद्रूपताका साधन	५२८३–५२८६
एक सौ पाँच सर्ग	
चित्‌का ही जाग्रत्‌के तुल्य और चित्‌का ही स्वप्नके तुल्य भान होता है, इसलिए जाग्रत् और स्वप्नमें कोई अन्तर नहीं है, यह वर्णन	५२८६–५३०९
एक सौ सात सर्ग	
अचेत्य पृथिवी आदिकी अवस्तुता तथा स्वप्नकी भाँति जगत् चित्‌का स्फुरण है, यह उपपादन	५३१०–५३१३
एक सौ आठ सर्ग	
अविद्याके विनष्ट हुए बिना कहीं भी जगत्‌का अन्त नहीं है ? इस विषयमें विस्तारके साथ मनोरञ्जक अविद्याख्यानका वर्णन ...	५३१४–५३२३
एक सौ नौ सर्ग	
मन्त्रियोंकी सलाहसे राजाका अपने शरीरका होम करना, तदुपरान्त अग्निसे चार शरीरोंसे युक्त राजाका प्रकट होना ...	५३२३– ...

अनाधितैवैकघना संविद्भवति यादृशी ।
तादृश्येवाऽनुभूतिर्हि तत्स्वभावोऽत्र कारणम् ॥ ११ ॥
अन्यन्न संभवत्यत्र सर्गादावेव कारणम् ।
यन्नाम तदिदानीं स्यात्कथ्यतां कीदृशं कथम् ॥ १२ ॥
सर्गादावेव नोत्पन्ना न चैवाऽद्याऽवभासते ।
विकल्पश्रीर्जगद्भासा केवलं भाति चिन्नभः ॥ १३ ॥
आभासमात्रमेवेदं दृश्यमित्यवबुध्यते ।
दृश्यमित्यवबोधेन तदृते स्यात्क दृश्यता ॥ १४ ॥

वस्तुकृत परिच्छेदसे भी वह नियन्त्रित नहीं है। अतः जिस जिस वस्तुको चिति जब जहाँ जानती है, तब वहाँ अपने स्वरूपको ही तत्-तत् वस्तुके रूपसे वह जानती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कोई भी वेद्य वस्तु चितिसे पृथक् नहीं है ॥ १०॥

इस प्रकार सृष्टिके आरम्भमें सत्यसंकल्प होनेके कारण जिसके मार्गमें कोई विघ्नबाधा (रुकावट) उत्पन्न नहीं होती ऐसी संवित् अपने संकल्पानुसार जैसी ही होती है वैसी ही इस समय सब लोगोंकी अनुभूति है। संवित्का स्वभाव ही इसमें कारण है ॥ ११ ॥

सत्यसंकल्प ब्रह्मरूपी संवित्के सिवाय प्रधान (प्रकृति), परमाणु आदि सृष्टिके आरम्भमें कारण कदापि नहीं हो सकते। ब्रह्मसे अतिरिक्त जो भी कारण वादियोंको जँचता हो, कृपया वे उसका स्वरूप तथा उसके कारण होनेमें जो युक्ति हो, उसका उपपादन करें। मैं उनका झटपट श्रुति और युक्तियों द्वारा खण्डन करूँगा ॥ १२ ॥

यदि वादी प्रश्न करे कि कृपया आप ही बतलाइये आपका कैसा सिद्धान्त है, तो इसपर कहते हैं—'सर्गादा०' इत्यादिसे।

द्वैत न तो सृष्टिके आदिमें ही उत्पन्न हुआ और न आज ही इसका अवभास होता है, एकमात्र चिदाकाश ही जगत्के रूपसे प्रतीत होता है ॥ १३ ॥

यदि केवल चिदाकाश ही प्रतीत होता है, तो सब लोगोंको 'दृश्य' रूपसे किसका बोध होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'आभासमात्र०' इत्यादिसे।

यह आभासमात्र (विवर्तमात्र) 'दृश्य' रूपसे लोगोंको ज्ञात होता है। 'दृश्य' रूपसे ज्ञात हो रहे इस शुक्तिरजत, मरुनदी, आदिरूप विश्वकी चिदाकाशके बिना क्या कहीं सत्यता दिखाई दी ? ॥ १४ ॥

स्वचमत्कारचातुर्यं चारु चिन्नभसा रसात् ।
बोधेन बुध्यते दृश्यमित्यबोधान्न बुध्यते ॥ १५ ॥

बोधोऽबोधश्च तद्रूपमेवमेव निरामयम् ।
भेदोऽत्र वाचि न त्वर्थे तस्मान्नाऽस्त्येव दृश्यता ॥१६॥

या चाऽऽसीद्दृश्यतैषां तां विद्धि त्वमविचारणाम् ।
सा चेदानीं विचारेण विनष्टाऽतः क्व दृश्यता ॥ १७ ॥

अस्मिन्नेव धियो यत्न आत्मज्ञानविचारणे ।
यत्नेन परमोऽभ्यासः स लोकद्वयसिद्धिदः ॥ १८ ॥

चिदाकाश अपनी चमत्कार चातुरीको ही आसक्तिवश जाग्रत् और स्वप्नबोधसे 'दृश्य' समझता है और सुषुप्ति अवस्थामें बोध न होनेसे नहीं जानता है ॥ १५ ॥

वे बोध और अबोध कौन हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'बोधः' इत्यादिसे।

बोध और अबोध चिदाकाशका ही निरामय (निर्विकार) रूप है, जड़का नहीं है, इसलिए चिदाकाशरूपसे वह एक ही है। बोधके बिना अबोधका रूप ही प्रसिद्ध नहीं होता और बोध हो जानेपर अबोधका संभव नहीं है, इसलिए 'राहोः शिरः' (राहुका सिर) 'शिर एव राहुः' (सिर ही राहु) इसके समान केवल वाणीमात्रसे भेद है, किन्तु अर्थमें कुछ भेद नहीं है । इसलिए दृश्यता है ही नहीं ॥ १६ ॥

अथवा यह समझिये कि आत्मतत्त्वके अविचारसे ही चित्में दृश्यता थी और इस समय विचार करनेपर वह नष्ट हो गई है, ऐसा कहते हैं—'या च' इत्यादिसे ।

जो इन लोगोंकी दृश्यता थी, उसे आप अविचारणा जानिये यानी आत्मतत्त्वके अविचारका ही वह फल था और वह विचारसे अब नष्ट हो चुकी है, अतः दृश्यता कहाँ है ॥ १७ ॥

इसलिए विचारके लिए ही प्रयत्न करना चाहिये यह बात मैं अनेक बार कह चुका हूँ, ऐसा कहते हैं—'अस्मिन्नेव' इत्यादिसे ।

इस आत्मज्ञानके विचारमें ही बुद्धिका यत्नपूर्वक उपयोग करना चाहिये। यत्नपूर्वक किया गया परम विचार इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सिद्धि देनेवाला है । सूत्रमें भी कहा है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (दुर्ज्ञेय आत्मसाक्षात्कार आवृत्तिविशिष्ट श्रवण आदि-

अविद्योपशमस्त्वेष जातोऽपि भवतामिह ।
अभ्यासेन विना साधो न सिद्धिमुपगच्छति ॥ १९ ॥
त्रोद्वेगं संपरित्यज्य गृहीत्वाऽनुदिनं क्षणम् ।
लोकद्वयहितं पथ्यमिदं शास्त्रं विचार्यताम् ॥ २० ॥
विज्ञातमप्यविज्ञातमात्मज्ञानमिदं भवेत् ।
भवतां भूरिभागानां संभूयाऽभ्यसनं विना ॥ २१ ॥

से साध्य है, अतः उसकी आवृत्ति करनी चाहिये), 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेन तद्दर्शनात्' (विद्यासे अविरुद्ध फलवाले फलोन्मुख कर्मसे प्रतिबन्धका अभाव होनेपर इस जन्ममें भी विद्योत्पत्ति हो सकती है, प्रतिबन्ध होनेपर जन्मान्तरमें भी हो सकती है, इस प्रकार अनियम है, उक्त अनियम श्रुतियोंमें देखा गया है) ॥ १८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि नित्य अपरोक्ष वस्तुके विषयमें प्रवृत्त उपदेशवचन एकबारकी प्रवृत्तिसे ही अज्ञानका विनाश कर वस्तुको प्रकट कर ही देगा, फिर अभ्यासकी क्या आवश्यकता है ? तो इसपर कहते हैं—'अविद्यो०' इत्यादिसे ।

हे सज्जन, यद्यपि आप लोगोंका यहाँपर यह अज्ञान विनष्ट हो चुका है फिर भी अभ्यासके बिना वह जीवन्मुक्ति प्रतिष्ठाको नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ १९ ॥

तो किस ग्रन्थको लेकर विचारका अभ्यास करना चाहिये जिससे जल्दीसे जल्दी बोध सिद्धिको प्राप्त हो सकता है, ऐसा यदि कोई पूछे तो उसपर कहते हैं—'त्रोद्वेगम्' इत्यादिसे ।

शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न पुरुषको आलस्य, बेचैनी आदि उद्वेग और उनके कारणभूत यथेष्ट भोजन, कुसंगति आदिका परित्याग कर और क्षणभरके लिए गुरुसेवा आदिका नियम लेकर इस महारामायण नामक शास्त्रका प्रतिदिन विचार करना चाहिये। यह इस लोक और परलोक—दोनों लोकोंमें हितकारी और कल्याणकारी है ॥ २० ॥

उसपर भी बहुतसे सहपाठियोंके साथ मिलकर अभ्यास करना आपसमें एक दूसरेके अनुभवके आदान-प्रदान द्वारा बहुत जल्द ज्ञानप्रतिष्ठाका हेतु है, ऐसा कहते हैं—'विज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यह आत्मज्ञान तरह तरहकी असंभावना, विपरीतभावना आदि रखनेवाले आप लोगोंके मिलजुल कर अभ्यास न करनेसे, ज्ञात होता हुआ भी, अज्ञातप्राय हो जाता है ॥ २१ ॥

यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सोऽवश्यं तमवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥ २२ ॥

तस्मादस्मान्निवर्तध्वमसच्छास्त्रविचारणात् ।
शान्तिं प्राप्स्यथ सच्छास्त्राज्जयलक्ष्मीं यथा रणात् ॥ २३ ॥

विवेके चाऽविवेके च वहत्येषा मनोनदी ।
यत्रैव वाह्यते यत्नात्तत्रैव स्थितिमृच्छति ॥ २४ ॥

अस्माच्छास्त्रादृते श्रेयो न भूतं न भविष्यति ।
ततः परमबोधार्थमिदमेव विचार्यताम् ॥ २५ ॥

स्वयमेव विचार्येदं परो बोधोऽनुभूयते ।
संसाराध्वश्रमहरो न त्वेतद्वरशापवत् ॥ २६ ॥

ज्ञान दुर्लभ है, इस भयसे श्रवणका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये, यह कहते हैं— 'यः' इत्यादिसे ।

जो जिस वस्तुको चाहता है; उसके लिए यत्न करता है और वह यदि थक कर बीचमें ही अपना विचार न बदल दे, तो उसे अवश्य प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

अनात्मशास्त्रोंके अभ्याससे विमुख हुए पुरुषोंको इस शास्त्रका अभ्यास करना चाहिये, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए असत् शास्त्रोंकी विचारणासे आप लोग निवृत्त हो जाइये । जैसे युद्धसे विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है वैसे ही इस सत्-शास्त्रके अभ्याससे आप लोगोंको अवश्य शान्ति प्राप्त होगी ॥ २३ ॥

यह मनरूपी नदी विवेक और अविवेक दोनों ओर बहती है जिस ओर प्रयत्नसे (विरोधी दूसरे स्रोतको रोकनेके यत्नसे) बहाई जाय, वहींपर स्थिर हो जाती है ॥ २४ ॥

इस शास्त्रके सिवा विवेकका सर्वश्रेष्ठ साधन आजतक न तो कोई हुआ और न आगे होगा, इसलिए परम बोधकी प्राप्तिके लिए इसीका पुनः पुनः मनन करना चाहिए ॥ २५ ॥

जो पुरुष इस श्रेष्ठतम शास्त्रका विचार कर चुका है, उसे प्रत्यक्षरूपसे आत्म-तत्त्व बोधका, जो कि संसाररूपी मार्गकी थकावट दूर करनेवाला है, अनुभव होता है वरदान अथवा शापके समान चिरकालके विलम्बसे उसका अनुभव नहीं होता ॥ २६ ॥

यन्न पित्रा न वा मात्रा न चाऽपि सुकृतैः कृतम् ।
श्रेयस्तद्वः परिज्ञातमिदमाशु करिष्यति ॥ २७ ॥
भवबन्धमयी साधो विषमेयं विषूचिका ।
आत्मज्ञानादृते दीर्घा न कदाचन शाम्यति ॥ २८ ॥
महामोहमयी माया मिथ्यैवाऽहमिति स्थिता ।
शास्त्रार्थभावनेनाऽऽशु मुच्यतां परशोच्यता ॥ २९ ॥
यात माऽऽपातमधुरं व्योम व्योमैकरूपिणीम् ।
शून्यं वायुं लिहन्तोऽन्तर्लेलिहाना इवाऽहयः ॥ ३० ॥
यान्ति वो दिवसाः कष्टमविज्ञातगमागमाः ।
व्यवहारे हि तैरेव प्रतिपालयतां मृतिम् ॥ ३१ ॥
तावदाश्वासनैषाऽस्ति भवतां भवभागिनाम् ।
दिनानि कतिचिद्यावन्नाऽऽयाति मरणावधिः ॥ ३२ ॥

यह शास्त्र माता, पिता आदिकी भी अपेक्षा अत्यन्त हितकारी है, ऐसा कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

आपका जो हित पिताने नहीं किया या जो हित माँने नहीं किया अथवा जो हित पुण्योंने नहीं किया वह हित यह शास्त्र तुरन्त करेगा; यदि विचार द्वारा आप लोग इसे जान लें ॥ २७ ॥

हे सज्जनशिरोमणे, यह भवबन्धनरूपी विषय-विषूचिका असीम है, आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य उपायसे कभी भी इसका शमन नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

'अहम्' यों मिथ्या ही खड़ी हुई महामोहमयी मायाका और उक्त मायासे प्राप्त हुई अपरिमित शोचनीयताका शास्त्रार्थभावना द्वारा शीघ्र ही परित्याग कीजिये ॥२९॥

आरम्भमें आपाततः मधुर प्रतीत होनेवाले शून्यस्वरूप विषयोंका आस्वाद ले रहे आप लोग एकमात्र आकाशरूपिणी अपार सृष्टिकी ओर—सूखे अतएव रसशून्य वायुको चाट रहे सर्पोंके समान—न बढ़ें ॥ ३० ॥

बड़े खेदकी बात है, दिनों द्वारा ही मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे आप लोगोंके जीवनके सारे दिन व्यवहारमें ही व्यतीत होते हैं । कब दिन आया और कब गया यह भी आप लोगोंको ज्ञात नहीं होता ॥ ३१ ॥

कुछ ही दिनों तक जबतक कि आयुकी मरणरूप अवधि नहीं आती है, संसार-

आगच्छन्त्यां मृतौ कष्टं परितापमवाप्स्यथ ।
तं यत्राऽङ्गाङ्गविच्छेदः शीतचन्दनलेपनम् ॥ ३३ ॥

क्रीणन्ति प्राणपण्येन धनं मानं घनभ्रमाः ।
यथाशास्त्रैः कथं बुद्धया न क्रीणन्त्यजरं पदम् ॥ ३४ ॥

पदं परमयत्नेन क्रियते यैश्चिदम्बरे ।
कथं तैः सह्यतेऽज्ञानशत्रुपादः स्वमूर्धनि ॥ ३५ ॥

निर्मानमोहमापन्ना गतिं गच्छत माऽधमाम् ।
क्रियते स्वात्मबोधेन मूलकाषो महापदाम् ॥ ३६ ॥

सागरमें निमग्न हुए आप लोगोंके लिए सत् शास्त्रकी अवलम्बनयोग्यता द्वारा यह आश्वासन है ॥ ३२ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि उसके बाद क्य होगा ? तो इसपर कहते हैं—'आगच्छन्त्याम्' इत्यादिसे ।

दिनपरदिन समीपमें आ रही मृत्युके प्राप्त होनेपर ऐसा दुःख प्राप्त होगा कि जिसमें अङ्ग-अङ्गका छेदन भी शीतलचन्दनलेपके समान अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ ३३ ॥

मूर्ख लोग युद्ध आदिमें प्राणोंकी बाजी लगाकर भी धन और विजयाभिमानका उपार्जन करते हैं, किन्तु वे विवेक, वैराग्य, श्रवण आदि उपायोंसे प्राप्त हुई तत्त्वबुद्धिसे अजर-अमर मोक्षपदका उपार्जन क्यों नहीं करते ? ॥ ३४ ॥

जो विवेकशील पुरुष अनायास (एकमात्र आत्मतत्त्वज्ञानसे) ब्रह्माकाशमें स्थान बनाते हैं, अज्ञानरूपी शत्रुका वध करनेमें समर्थ उन सर्वोत्कृष्ट पुरुषों द्वारा उत्तम शास्त्रकी उपेक्षासे अपने सिरपर अज्ञानरूपी शत्रुकी लात कैसे सही जा सकती है ? ॥ ३५ ॥

हे पुरुषो, आप लोग अभिमान तथा मोहसे रहित विवेकको प्राप्त होकर यानी तत्त्व जानकर मोक्षगतिको प्राप्त हों अधम संसारगतिको प्राप्त न हों । आत्मबोध द्वारा बड़ी-बड़ी विपदाओंकी जड़ खोदी जाती है ॥ ३६ ॥

यह वसिष्ठ चिरकालसे हम लोगोंके उद्बोधनमें कमर कसकर लगा है, मारे चिल्लाहटके इसका कण्ठ सूख गया है, यह बेचारा कण्ठ सूखने से बच जाय यों मेरे ऊपर दयासे मेरा वचन ध्यानसे सुनकर आप लोग अपना स्वरूप जानिये, यों अतिशय वात्सल्यवश कहते हैं—'प्रलपन्तम्' इत्यादिसे ।

प्रलपन्तमहोरात्रं युष्मदर्थेन मामिमम् ।
यं प्रदृश्येदमाकर्ण्य स्वात्मनैवाऽऽत्मताऽर्प्यताम् ॥ ३७ ॥
अद्यैव न चिकित्सां यः करोति मरणापदः ।
संप्राप्तायां मृतौ मूढः करिष्यति किमातुरः ॥ ३८ ॥
अस्माद्ग्रन्थादृते ग्रन्थो नाऽन्यः स्वात्मावबोधने।
नूनमर्थकरो ग्राह्यस्तिलस्तैलार्थिनामिव ॥ ३९ ॥
आत्मज्ञानमिदं शास्त्रं प्रकाशयति दीपवत् ।
पितेव बोधयत्याशु कान्तेव रमयत्यलम् ॥ ४० ॥
विद्यमानमपि ज्ञानं ज्ञातं शास्त्रगणान्न यत् ।
दुर्बोधं मधुरं तत्तु ज्ञास्यन्तीतो न संशयः ॥ ४१ ॥

आप लोगोंके उद्बोधनके लिए जी-जानसे लगे हुए, आप लोगोंके लिए रात-दिन प्रलाप कर रहे, कण्ठ सूखने आदि क्लेशोंसे नित्य पीड़ित हो रहे मेरी (जगत्प्रसिद्ध इस वसिष्ठकी) ओर देखकर दयावश मेरे वचनोंको आदरसे सुनकर, उद्बुद्ध हो, देहेन्द्रियादि परिच्छिन्न आत्मभावका परित्याग कर यथार्थब्रह्मात्मता प्राप्त कीजिए ॥३७॥

आज ही आत्मज्ञानसे क्या प्रयोजन है आगे चलकर कभी आत्मज्ञान कर लेंगे यों सोचनेवालेके प्रति कहते हैं—'अद्यैव' इत्यादिसे ।

जो पुरुष आज ही मृत्युरूपी आपत्तिकी चिकित्सा (प्रतीकारका उपाय) नहीं करता वह मूढ़ मृत्युके सरपर सवार होनेपर व्याकुलावस्थामें क्या करेगा ? ॥३८॥

अपने असली स्वरूपका ज्ञान करानेकेलिए इस ग्रन्थको छोड़कर दूसरा ग्रन्थ नहीं है, इसलिये जैसे तैलार्थी (तेल चाहनेवाले) तिलोंका संग्रह करते हैं वैसे ही अपना कल्याण चाहनेवालोंको यह अभिलषित अर्थ देनेवाला है इस बुद्धिसे इस ग्रन्थका संग्रह करना चाहिये ॥ ३९ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि अन्य अध्यात्म ग्रन्थोंकी अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है ? तो इसपर कहते हैं—'आत्मज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यह शास्त्र (ग्रन्थ) दीपकी नाईं आत्मरूप ज्ञानको प्रकाशित करता है, पिताके समान हितोपदेश देता है और कान्ताके सामान अत्यन्त आनन्द देता है ॥ ४० ॥

नित्यप्राप्त भी जिस आत्मरूप ज्ञानको अनेक शास्त्रोंसे लोग नहीं जान सके, उस दुर्बोध मधुर ज्ञानको इस ग्रन्थके अभ्याससे जान जायँगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ४१ ॥

इदमुत्तममाख्यानं मुख्यानां शास्त्रदृष्टिषु ।
सुखेन बोधदं हृद्यमपूर्वं न तु किंचन ॥ ४२ ॥

नानाख्यानकथाचित्रं विनोदेन विचारयन् ।
इदं शास्त्रं परं याति पुमान्नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ ४३ ॥

यो ह्यद्याऽपि न संप्राप्तः पण्डितैरविखण्डितैः ।
स इतः प्राप्यते बोधः सुवर्णमिव सैकतात् ॥ ४४ ॥

शास्त्रकर्तरि मङ्क्तव्यं न कदाचन कुत्रचित् ।
शास्त्रार्थ एव तन्नित्यं युक्तियुक्तानुभूतिदे ॥ ४५ ॥

शास्त्रोंमें मुख्य आख्यानोंमें यह आख्यान सर्वोत्तम है यह अनायास ज्ञान देनेवाला अत्यन्त मनोहर एवं अनादि है। इसमें तत्त्ववेत्ताओंके सम्प्रदायमें प्रसिद्ध वस्तुसे अतिरिक्त स्वकपोलकल्पित कुछ भी वस्तु नहीं है ॥ ४२ ॥

विविध आख्यानों और कथाओंसे विस्मयजनक इस शास्त्रका कौतुकवश विचार करता हुआ पुरुष आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, इसमें जरा भी संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत पण्डितोंको भी जो बोध (आत्मज्ञान) आजतक प्राप्त नहीं हुआ वह इस शास्त्रसे प्राप्त हो जाता है जैसे कि सोनेकी खानमें चालने, धोनेसे अलग किये गये बालूसे सुवर्ण प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

यदि कोई आशङ्का करे कि इसी शास्त्रसे यदि ज्ञान होता है, तो इस शास्त्रके रचयिताको किस शास्त्रसे ज्ञान हुआ ? जहाँसे उसे ज्ञान हुआ वहींसे हम भी आत्मज्ञान प्राप्त कर लेंगे। यदि इस शास्त्रके रचयिताने ज्ञान हुए बिना ही रचना की है तो इस शास्त्रसे ज्ञानोदयकी कौन आशा है ? इसपर कहते हैं—'शास्त्रकर्तरि' इत्यादिसे।

यदि यह शास्त्र युक्तियुक्त न होता और विचार करनेपर अनुभूतिप्रद न होता तो इस शास्त्रके कर्ताको कहाँसे बोध हुआ यों उसके कर्तामें बोधके कारणोंकी छानबीनमें निरत होना ठीक होता। यह शास्त्र तो स्वतः हजारों युक्तियोंसे युक्त है और अनुभवप्रदान करनेवाला है। इसके विचारनेपर स्वानुभवसे ही सब शङ्काएँ निवृत्त हो जाती हैं, इसलिए इसीमें सदा निमग्न होना ठीक है। शास्त्रके रचयितामें बोध है या नहीं यह शङ्का कहीं कभी ध्यानमें नहीं लानी चाहिए ॥ ४५ ॥

अज्ञानान्मत्सरान्मोहादविचारिभिरेकता ।
अवहेलितशास्त्रार्थैः कर्तव्या नाऽऽत्महन्तृभिः ॥ ४६ ॥
जानाम्येव यथैवेमा यदहं त्वं यथा धियः ।
तथा बोधितकारुण्यात्स्वभावो हि ममेदृशः ॥ ४७ ॥
युष्मत्संविल्लवः शुद्ध एवं वक्तुमिह स्थितः ।
अहं नरो न गन्धर्वो नाऽमरो न च राक्षसः ॥ ४८ ॥

अतएव इस शास्त्रकी अवहेलना करनेवालोंके साथ भूल कर भी कभी मैत्री नहीं करनी चाहिये, यह कहते हैं—'अज्ञानात्' इत्यादिसे ।

अज्ञानसे, डाहसे अथवा मोहसे इस शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले अविवेकी आत्महत्यारों*के साथ कदापि मित्रता नहीं करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

यदि प्रश्न हो कि यदि ऐसा है, तो आप हम लोगों एवं अन्य अज्ञानियोंके साथ क्यों मित्रता करते हैं ? मित्रताके कारण ही तो आप दयावश उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं ? इसपर कहते हैं—'जानामि' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, ये श्रोता लोग जिस प्रकारके अधिकारी हैं, आप जैसे अधिकारी हैं और जैसी श्रवण-धारणाके अभ्यासमें पटु आप लोगोंकी बुद्धियाँ हैं एवं जैसे मैं आप लोगोंको उपदेश देनेके लिए आपके पिताजी द्वारा आज्ञप्त हुआ यह- सब मैं भली भाँति जानता हूँ । अतः आप लोगोंके महाभाग्योदयसे जागी हुई करुणासे आप लोगोंको उपदेश देनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ, चूँकि मेरा स्वभाव ही ऐसा है, दीन जनोंमें मेरी दया सदा जागी रहती है, निष्ठुरताका तो मुझमें नाम तक नहीं है; इसलिए आप लोगोंका हित चाहनेवाले मेरे वचनोंपर आप लोग आदर करें, यह भाव है ॥ ४७ ॥

अथवा मैं आप लोगोंका आत्मा ही हूँ आप लोगोंके पुण्यसे शुद्ध आत्मतत्त्वका आप लोगोंको उपदेश देनेके लिऐ आया हूँ । और मेरे भी आप लोग परम प्रेमास्पद आत्मा ही हैं, इसलिए आप लोगोंका मित्र-सा हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं— 'युष्मत्०' इत्यादिसे ।

मैं न मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूं और न राक्षस हूँ, किन्तु आप लोगोंका शोधित संविद्रूप सूक्ष्मार्थ (आत्मा) हूँ तथा आप लोगोंको आत्मज्ञानका उपदेश देनेके लिए यहाँपर स्थित हूँ । हे श्रीरामजी, आप लोग भी संविद्रूप ही हैं, अति

* इस मोक्षशास्त्रकी अवहेलना करनेसे आत्मज्ञानकी अप्राप्ति ही आत्महत्या है ।

संविन्मात्रा भवन्तो हि तद्भावोऽस्त्यतिनिर्मलः।
स्थितोऽस्मीति भवत्पुण्यैर्ननु नाऽस्मि न चाऽपरः।। ४९ ।।
श्यामायमाना नाऽऽयान्ति यावन्मरणवासराः ।
सारः संह्रियतां तावद्वैरस्यं वस्तुदृष्टिषु ।। ५० ।।
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ।। ५१ ।।
सर्वभावेषु वैरस्यं न यावत्समुपागतम् ।
भावानां भावना तावत्तानवं नोपगच्छति ।। ५२ ।।
आत्मानमलमुद्धर्तुं वासनातानवादृते ।
नास्त्युपायो महाबुद्धे कश्चनाऽपि कदाचन ।। ५३ ।।

निर्मल संविद्रूप ही मैं आप लोगोंके पुण्योदयसे स्थित हूँ । मैं आप लोगोंकी आत्मासे अतिरिक्त नहीं हूँ ।। ४८,४९ ।।

मैं आप लोगोंका अत्यन्त आप्त हूं, इसलिये जबतक रात्रिके समान अन्धकार पूर्ण मृत्युदिवस पासमें नहीं आते तब तक मेरे द्वारा कहा गया सब वस्तुओंमें वैराग्यरूप पहला सार पदार्थ बटोरकर रख लीजिये ।। ५० ।।

जो पुरुष इसी लोकमें नरकरूपी व्याधिके प्रतीकारका उपाय नहीं करता, वह ओषधिरहित (जहाँ ओषधि दुर्लभ है) स्थानमें जाकर नरकरूपी रोगोंसे छटपटाता हुआ क्या करेगा ।। ५१ ।।

यदि कोई आशङ्का करे कि वैराग्य ही परम सार क्यों है ? तो इसपर वैराग्यके बिना वासनाओंकी तनुता (अल्पता) की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'सर्वभावेषु' इत्यादिसे ।

जबतक सकल पदार्थोंमें वैराग्य नहीं प्राप्त होता तबतक पदार्थोंकी बासना कम (निवृत्त) नहीं होती ।। ५२ ।।

वासनाकी निवृत्तिमें आपका इतना बड़ा आग्रह क्यों है ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'आत्मानम्' इत्यादिसे ।

हे महामते, आत्माका पूर्णरूपसे उद्धार करनेके लिए वासनाकी निवृत्तिको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय न कभी था और न होगा ।। ५३ ।।

पदार्थोंके रहते उनकी वासनाकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'भावास्तु' इत्यादिसे ।

भावास्तु यदि विद्यन्ते तद्धि ते वस्तुभावना ।
किन्त्वेते नैव सन्तीह शशशृङ्गादयो यथा ॥ ५४ ॥
सर्व एव जगद्भावा अविचारितचारवः ।
अविद्यमानसद्भावा विचाराद्विशरारवः ॥ ५५ ॥
प्रामाणिकविचारेषु न विद्यन्ते कृतेषु ये ।
कथं सन्ति जगद्भावास्ते के सन्ति सदैव वा ॥ ५६ ॥
सर्व एव जगद्भावाः कारणाभावतो भृशम् ।
सर्गादावेव नोत्पन्ना यच्चेदं भाति तत्परम् ॥ ५७ ॥
पदे सर्वेन्द्रियातीते मनःषष्ठेन्द्रियात्मनाम् ।
भावानां कारणं नाऽस्ति मनःषष्ठेन्द्रियात्मकम् ॥ ५८ ॥

यदि पदार्थ सत्यरूपसे रहें तो उनमें से अपने अनुकूल पदार्थोंमें यह मेरे लिए आवश्यक है इसका मुझे सम्पादन करना चाहिये इत्यादि वासना होती है, किन्तु ये पदार्थ तो शशके सींग आदिकी तरह यहाँ हैं ही नहीं; जगत्में जितने पदार्थ हैं, उनपर जबतक विचार नहीं किया जाता तभी तक रमणीय प्रतीत होते हैं, वस्तुतः उनकी सत्ता है नहीं । विचार करनेपर वे सामने खड़े ही नहीं होते हैं, न मालूम कहाँ विलीन हो जाते हैं ॥ ५४, ५५ ॥

यद्यपि ये पदार्थ वेदान्तियोंके विचारमें नहीं हैं तथापि कपिल, कणाद आदिके विचारमें तो हैं ही, ऐसी अवस्थामें आपने उन्हें असत्य ही कैसे मान लिया ? इस शङ्कापर कहते हैं—'प्रामाणिक'० इत्यादिसे ।

प्रामाणिक विचार करनेपर जो जगत्पदार्थ नहीं टिकते हैं, वे कैसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? वे एक एक वस्तुरूप हैं या सर्ववस्तुरूप हैं, सदा ही रहते हैं, या कभी ही रहते हैं ? सभी प्रकारसे पहले सैकड़ों वार हम उनका खण्डन कर चुके हैं, यह अर्थ है ॥ ५६ ॥

सभी जगत्के पदार्थ कारणके अत्यन्ताभावसे सृष्टिके प्रारम्भमें उत्पन्न ही नहीं हुए, जो यह प्रतीत होता है वह परम ब्रह्म ही है ॥ ५७ ॥

कारणका अभाव कैसे है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—'पदे' इत्यादिसे ।

सभी इन्द्रियोंसे अज्ञेय स्वप्रकाश चिदेकरस परब्रह्ममें मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे वेद्य होनेवाले पदार्थोंके मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे वेद्य कारणकी प्रलयकालमें संभावना तक नहीं की जा सकती है ॥ ५८ ॥

भावानां विविधाख्यानामनाख्यं कारणं कुतः ।
कुतो वस्तुन्यवस्तुत्वं व्योमन्यव्योमता कुतः ॥ ५९ ॥

साकारस्य हि साकारं वटधानादिवद्भवेत् ।
बीजं तद्वस्तु साकारं जायतेऽन्यत्कुतोऽन्यथा ॥ ६० ॥

न किंचिदपि यत्राऽस्ति बीजमाकृतिमन्मनाक् ।
तत आकृतिमद्विश्वं भवतीति विडम्बनम् ॥ ६१ ॥

कार्यकारणभावादि तस्मिन्नहि परे पदे ।
वाचालत्वेन यन्नाम कल्प्यते मौर्ख्यमेव तत् ॥ ६२ ॥

सहकारिनिमित्तानामभावे हि न कारणात् ।
कार्यं भवेदन्यदेति बालैरप्यनुभूयते ॥ ६३ ॥

नाम और रूप युक्त जगत्‌का अनाम और अरूप ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, यों दूसरो युक्ति दर्शाते हैं—'भावानाम्' इत्यादिसे ।

विविध नाम-रूपवाले पदार्थोंका नाम-रूपविहीन कारण कैसे हो सकता है । इसी प्रकरीतिसे वस्तु अवस्तुका कारण तथा शून्य अशून्यका कारणन हीं कहा जा सकता, यह कहते हैं—'कुतः' से । वस्तुमें अवस्तुता कैसे हो सकती है और व्योममें अव्यो-मता कैसे हो सकती है ? ॥ ५९ ॥

वटके बीजके समान साकारका साकार ही बीज हो सकता है । बीज वह वस्तु है उससे साकार विसदृश अन्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ६० ॥

जिसमें तनिक भी आकृतिवाला कुछ बीज नहीं है, उससे आकृतिवाला विश्व उत्पन्न होता है, यह कथन विडम्बनावाक्यके समान निरर्थक है ॥ ६१ ॥

उस परम पदमें कार्यकारणभावादि नहीं है, बकवासके कारण जो उसमें कार्य-कारणभावादिको कल्पना की जाती है, वह निरी मूर्खता है ॥ ६२ ॥

सहकारो और निमित्त कारणके अभावमें कारणसे (उपादानकारणसे) कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती सहकारी और निमित्तकारणके अस्तित्वमें होती है, यह बात बच्चोंको तक विदित है ॥ ६३ ॥

जगद्ज्ञानरूप होनेके कारण भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घटज्ञानमें घटकारणता नहीं दिखाई देती, ऐसा कहते हैं—'तन्मात्र०' इत्यादिसे ।

तन्मात्रवेदनं भूयः पृथ्व्यादीनां च कारणम् ।
किमस्ति कथ्यतां छाया कथमास्ते वदाऽऽतपे ॥ ६४ ॥
परमाणुसमूहा ये जगदित्यप्यवास्तवम् ।
शशशृङ्गं धनुःप्रख्यमज्ञानादभिधीयते ॥ ६५ ॥
परमाणुसमूहश्चेत्संभूय कुरुते जगत् ।
यदृच्छयैव तमसि शीर्यते च यदृच्छया ॥ ६६ ॥

कहिये तो सही जगत्-मात्रज्ञानरूप चित् पृथिवी आदिका कारण कैसे हो सकता है । चित्में अचित्की स्थिति नहीं हो सकती, इसलिए भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'छाया' से । भला कहिए तो सही धूप में छाया कैसे रह सकती है ? ॥ ६४ ॥

इसीसे परमाणुकारणवादी बौद्ध आदिके मतका खण्डन हो गया । कारण कि अतीन्द्रिय (इन्द्रियागोचर) परमाणुसमूह इन्द्रियगोचर नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं—'परमाणु०' इत्यादिसे ।

जो बुद्ध आदि लोग परमाणुओंका समूह ही जगत् है, ऐसा कहते हैं उनका कथन वास्तविक नहीं है, जैसे कोई शशका सींग धनुषके तुल्य है, कहे वैसे ही यह भी अज्ञानसे कहा जाता है ॥ ६५ ॥

यदि परमाणु आपसमें मिलकर जगत्की रचना करें तो उनका सदा आकाशमें उड़ना, गिरना दिखाई देनेके कारण प्रत्येक घरमें प्रतिदिन पहाड़की चोटीसी और कुएँका गड्ढासा हो जायगा, ऐसा कहते हैं—'परमाणु०' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

यदि परमाणुओंका समूह मिलकर जगत्की रचना करता, तो अवयवभूत वे जब चाहते तब आकाशमें उड़ते और जब चाहते नीचे गिरते इस प्रकार जगह जगह, घर घर प्रतिदिन उसकी अपूर्व धूलिकी अम्बार लग जाती अथवा बड़ा गड्ढा हो जाता और दूसरी बात यह भी है कि परमाणु नामक निरवयव कोई द्रव्य किसी-को दिखाई नहीं देता है, जालोंके अन्दर सूर्य-किरणोंमें सावयव ही रजःकण दिखाई देते हैं । यदि कहिये उन्हींके अवयव जहाँ तक हो सकते हैं उसकी चरमसीमा निरवयव है ऐसा अनुमान होता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह परस्पर संयोगके अयोग्य होनेसे अद्रव्य हो जायगा । निरवयवका अन्यके साथ संयोग नहीं हो सकता । संयोग एक देशमें होता है ऐसा नियम है । संयोग न होनेसे

तदङ्गमिङ्गते नित्यं देशे देशे गृहे गृहे ।
अपूर्वात्मरजःशृङ्गं खातं वा स्याद्दिने दिने ॥ ६७ ॥
न च तद्दृश्यते किंचित्कस्य तत्कर्म तादृशम् ।
भवेद् व्यर्थमभव्यस्य जडास्तु परमाणवः ॥ ६८ ॥
नाऽबुद्धिपूर्वं तत्कर्म संभवत्यङ्ग कस्यचित् ।
बुद्धिपूर्वं तु यद् व्यर्थं कुर्यादुन्मत्तको हि कः ॥ ६९ ॥
जडस्य बुद्धिपूर्वेहा मरुतो नाऽस्ति तां विना ।
न संभवत्यणुचयो नाऽन्यत्कर्तोपपद्यते ॥ ७० ॥

द्व्यणुक आदिकी सिद्धि नहीं होगी । दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि अतीन्द्रिय आकाशपुष्पसे परमाणुओंके संयोजन द्वारा जगत्‌की रचना करना किसका काम है ? क्या किसी असंसारी पुरुषका वह काम है या संसारीका ? संसारीकी शक्ति तो परमाणुओंसे जगत्‌की रचना करनेमें कतई नहीं है, यह बिलकुल साफ है । यदि कहो कि संसारके अयोग्य ईश्वर या जड़का यह काम है, तो उनसे ईश्वरका बिना प्रयोजनके जगत्‌का निर्माण व्यर्थ है । नित्यमुक्त ईश्वरको कोई प्रयोजनापेक्षा भी नहीं है अथवा सृष्टिका कोई प्रयोजन उपपत्तितः सिद्ध भी नहीं किया जा सकता । और जड़ परमाणु अपने-आप जगत्सृष्टिमें प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, यह भाव है ॥६६–६८॥

यदि कोई शङ्का करे कि चेतनको बुद्धिपूर्वक किये गये काममें प्रयोजनकी अपेक्षा होती है अबुद्धिपूर्वक किये गये काममें तो प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है, तो इसपर कहते हैं—'ना०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्र, उक्त जगत्सृष्टिरूप कार्य[1] किसीका अबुद्धिपूर्वक तो नहीं हो सकता और बुद्धिपूर्वक तो उस व्यर्थ कर्मको कौन पागल करेगा ? ॥ ६९ ॥

इस कथनसे वायु ही परमाणुका संघात करेगा, बुद्धिपूर्वक व्यापारके बिना ही अणुओंका संघात (मेलन) हो जायगा, इस आशका भी निराकरण हो गया, ऐसा कहते हैं—'जडस्य' इत्यादिसे ।

जड़ वायुकी बुद्धिपूर्वक चेष्टा नहीं है । बुद्धिपूर्वक चेष्टाके बिना परमाणुओंका एकत्रीकरण नहीं हो सकता । जड़ और सर्वज्ञसे (ईश्वरसे) अतिरिक्त जीव, प्रलयमें

१ जिसकी सुन्दर रचना मनको चक्करमें डालदेनेवाली है, अनेक भुवन, गिरि, नदी, तालाब आदिसे युक्त है तथा जरायुज, अण्डज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे पूर्ण है ।'

वयमात्मान एवेमे खात्मानः खात्मका जनाः ।
तथा स्थिता यथा स्वप्ने भवतां स्वप्नमानवाः ॥ ७१ ॥

तस्मान्न जायते किंचिद्विश्वं नाऽपि च विद्यते ।
इत्थं चिन्नभ एवाऽच्छं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि ॥ ७२ ॥

विश्वाकाशं चिदाकाशे विष्वग्विश्रान्तिमागतम् ।
स्पन्दो द्रवत्वं शून्यत्वमनिलेऽम्भसि खे यथा ॥ ७३ ॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ निमेषेणाऽतिदूरतः ।
संविदो यद्वपुर्मध्ये चिद्व्योम्नो विद्धि तद्वपुः ॥ ७४ ॥

शरीर नहीं होनेके कारण, असमर्थ ही था; इसलिए सृष्टिके आरम्भमें इसके किसी कर्ताकी उपपत्ति नहीं हो सकती है ॥ ७० ॥

यदि कर्ताके अभावसे जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ तो हम लोगोंका क्या स्वरूप है ? कैसे जगत्में स्थित हैं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'वयम्' इत्यादिसे ।

ये हम लोग देह आदि मूर्ततासे रहित चिदात्मरूप ही हैं एवं अन्य लोग भी हमारी नाईं ही चिदात्मरूप ही हैं तथापि जैसे स्वप्नमें आपके स्वप्न-मानव होते हैं वैसे ही अपनी कल्पनासे ही स्थित हैं ॥ ७१ ॥

इस प्रकार सब कुछ उपपन्न होनेसे ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त ही निर्बाध है, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए न तो जगत् कुछ उत्पन्न ही होता है और न विद्यमान ही है । इस प्रकार जगत्के रूपसे निर्मल चिदाकाश ही अपनेमें अपने आप विकसित होता है ॥ ७२ ॥

जैसे वायुमें स्पन्द, जलमें द्रवता और आकाशमें शून्यता इनसे (वायु आदिसे) अभिन्न ही चारों ओर विश्रान्त हैं वैसे ही चिदाकाशमें विश्वाकाश अभिन्न होकर ही चारों ओर विश्रान्त है ॥ ७३ ॥

जगत्-शून्य चिदाकाशका जो स्वरूप पहले दृष्टान्तपूर्वक अनेक बार अनुभवमें बैठाया गया है, उसीका स्मरण कराते हैं—'देशात्' इत्यादिसे ।

अत्यन्त दूरसे भी दूर एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्तिमें दोनों देशोंके मध्य-में एक क्षणभरके लिए संवित्का जो स्वरूप है, वही निर्विषय चिदाकाशका स्वरूप समझिये ॥ ७४ ॥

स स्वभावो हि सर्वेषामर्थानां ते च तन्मयाः ।
तादृशास्तन्नभोरूपास्तेन विश्वमतो नभः ॥ ७५ ॥
स्वभावस्य परा वृत्तिर्मनागेवाऽऽशु तस्य सा ।
स्वभावादविभिन्नैव सेदं जगदिति स्थिता ॥ ७६ ॥
जगच्चिन्नभसोस्तस्मान्न कदाचन भिन्नता ।
एकमेव द्वयो रूपं पवनस्पन्दयोरिव ॥७७ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्ये हि यद्वपुः ।
शान्ताशेषविशेषात्म तन्मुख्यं नेतरद्विदुः ॥ ७८ ॥
स स्वभावोऽङ्ग भूतानां तत्र तिष्ठन्ति पण्डिताः ।
तस्मान्न विचलन्त्येते नित्यध्यानाद्धरादयः ॥ ७९ ॥
आभासाकाशमेवेदं भामात्रमवभासनम् ।
विश्वमाकाररहितं स्वभावं विदुरव्ययम् ॥ ८० ॥

सब पदार्थोंका संविदाकाश ही परमार्थ स्वभाव है, वे सब पदार्थ संविदाकाशमय, चिदाकाशसदृश और चिदाकाशरूप ही हैं, इसलिए विश्वकी चिदाकाशरूपसे ही भावना करनी चाहिये शून्यरूपसे भावना नहीं करनी चाहिये ॥ ७५ ॥

पूर्वोक्त चिदाकाशकी स्वभावसे अभिन्न ही विवर्तभावसे जो परम स्थिति है उसीको आपातदर्शी व्यवहारी 'जगत्' नामसे पुकारते हैं ॥ ७६ ॥

इसलिए जगत् और चिदाकाश ये दो कदापि परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं जैसे पवन और स्पन्द दोनोंका एक ही रूप है वैसे ही इनका एक ही स्वरूप है ॥ ७७ ॥

क्षणभरमें एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्तिमें मध्यमें ज्ञानका सकल विशेषोंसे शून्य जो स्वरूप है वही अनुभवका मुख्य दृष्टान्त है उससे अन्य नहीं ॥ ७८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वही अशेष विशेषोंसे शून्य चिदाकाश सब भूतोंका स्वभाव है, उसीमें पण्डित लोग समाधि द्वारा स्थित रहते हैं, चिदाकाशरूप उससे ये पृथिवी आदि पदार्थ विचलित नहीं होते हैं ॥ ७९ ॥

यह विश्व चिद्रूपी दर्पणमें आभासाकाश ही है, उसका अवभासन भी चित्की प्रभारूप ही है । निराकार अविनाशी चितस्वभावको ही विद्वान् पुरुष जगत् कहते हैं ॥ ८० ॥

न जायते न म्रियते न भूत्वा भावि कुत्रचित् ।
अनन्यदेव चिद्व्योम्नः शून्यत्वमिव खाज्जगत् ॥ ८१ ॥
न विश्वमस्ति नैवाऽऽसीन्न च नाम भविष्यति ।
इदमाभासते शान्तं चिद्व्योम परमात्मनि ॥ ८२ ॥
चिन्मात्रमेव कचति स्वप्ने पुरतया यथा ।
तथैव जाग्रदाख्येऽस्मिन्स स्वप्ने कचति स्वयम् ॥ ८३ ॥
सर्गादावेव भावानामसत्तेत्यस्ति देहकः ।
कुतस्तस्माच्छरीरत्वं स्वप्न एव नभश्चितेः ॥ ८४ ॥
स्वयंभ्वाख्यं शरीरं स्वं पूर्वः स्वप्नो महाचितेः ।
इतउत्थानास्तदनु स्वप्नात्स्वप्नान्तरं वयम् ॥ ८५ ॥
गण्डस्योपरि जातानां स्फोटानामत एव नः ।
परमेण प्रयत्नेन न मनो नाम यास्यति ॥ ८६ ॥

यह जगत् न तो उत्पन्न होता है, न उत्पन्न होकर विनष्ट होता है और न कभी भविष्यमें होनेवाला ही है। यह चिदाकाशसे वैसे ही अभिन्न है जैसे कि आकाशसे शून्यता अभिन्न है ॥ ८१ ॥

न जगत् है, न कभी था और न कभी होगा। यह परम शान्त चिदाकाशका आत्मामें ही अवभास हो रहा है ॥ ८२ ॥

जैसे स्वप्नमें चिन्मात्र ही नगर, पर्वत आदिके रूपसे प्रकाशमें आता है वैसे ही इस जाग्रत् नामक स्वप्नमें वह चिदाकाश ही स्वयं जगत्‌के रूपसे प्रकाशित हो रहा है ॥ ८३ ॥

सृष्टिके आरम्भमें पृथिवी आदि पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं है, इसलिए पार्थिव आदि देहका कैसे संभव हो सकता है ? इसलिए यह भासमान शरीरता आकाशरूप चितिका स्वप्न ही है ॥ ८४ ॥

स्वयम्भू नामका अपना शरीर महाचितिका पहला स्वप्न है। तदनन्तर स्वयम्भू शरीरसे उत्पन्न हुए हम लोग स्वप्नसे दूसरे स्वप्नके सदृश हैं ॥ ८५ ॥

इसलिए जैसे गलगण्डमें (गण्डमालामें) निकले हुए फोड़ेका गलेसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं है वैसे ही ब्रह्मसे हमारा भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है यों व्यवहित सम्बन्धकी दृढ़-भ्रान्ति होनेके कारण हमारा मन भी, चाहे कितने ही प्रयत्नसे क्यों न प्रेरित किया जाय, ब्रह्ममें शीघ्र नहीं जायगा ॥ ८६ ॥

ब्रह्मैवाऽसत्यपुरुषः सत्यवच्चाऽनुभूयते ।
स्थितं ततः प्रभृत्येव न त्वलीकमिदं ततम् ॥ ८७ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमलीकं जायते जगत् ।
यथा स्वप्ने तथाऽलीकमेवमाशु विनश्यति ॥ ८८ ॥
चिद्व्योमैवैत्य विश्वत्वं यथा स्वप्ने विनश्यति ।
अनुदित्वैव विश्वत्वं जाग्रदाख्ये तथैव च ॥ ८९ ॥
अनुभूतमलीकं चाऽप्यलीकं सत्यवत्स्थितम् ।
संविदेव यथा स्वप्ने नगरादितयोदिता ॥ ९० ॥
साकारेव निराकारा स्थिता तद्वज्जगत्तया ।
संविदाकाशमाकाशादणु मेरोरणुर्यथा ॥ ९१ ॥

जैसे गला ही गण्डमालाके रूपमें स्थित होकर गण्डमालाके ऊपर निकले हुए फोड़ेके रूपसे भी स्थित यानी उससे अभिन्न है फिर भी भिन्न-सा प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ व्यष्टिजीवरूप असत्य पुरुष होकर देहरूपसे पृथक् प्रतीत होता है। जभींसे ब्रह्म जीवरूप हुआ तभीसे यह मिथ्या जगत् स्थित है ॥ ८७ ॥

ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सारा जगत् स्वप्नजगत्के समान अलीक (असत्य) ही उत्पन्न होता है और स्वाप्न जगत्के समान ही नष्ट हो जाता है ॥ ८८ ॥

जैसे स्वप्नमें चिदाकाश ही जगत्का रूप धारणकर लीन हो जाता है वैसे ही जाग्रत् नामक स्वप्नमें भी, जन्म धारण किये बिना ही, जगत्का रूप धारण कर नष्ट होता है ॥८९॥

यदि यह जगत् असत् (अनृत) है तो इसका अनुभव कैसे होता है और कैसे यह सत्यकी नाईं स्थित है, क्योंकि शशके सींगोंमें, जो असत् हैं, ये दोनों बातें नहीं दिखाई देतीं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'अनुभूतम्' इत्यादिसे।

जैसे स्वप्नमें संवित् ही नगर, पर्वत, नदी आदिके रूपसे उदित होती है वैसे ही अलीक (असत्) होते भी अनुभूत और असत् होते भी सत्यवत् स्थित यह जगत् संवित्से ही उदित है, अतः संविद्रूप ही है। शून्यरूप नहीं है ॥ ९० ॥

स्वप्न... आदिके समान ही निराकार होती हुई भी साकार-सी संवित् जगत् रूपसे स्थित है। जैसे मेरु पर्वतके धूलि-कण परमाणुके समान अणु हैं वैसे ही संविदाकाश आकाशसे भी अणु है ॥ ९१ ॥

किल यत्तस्य नाम स्यादाकाशादणुता कुतः ।
कारणाभावतोऽन्यस्य नाऽऽकार उपपद्यते ॥ ९२ ॥

सर्गादावेव योऽजातो जातोऽयं जगतः कुतः ।
यदेव वेदनाकाशे पुरं स्वप्ने तदेव नः ॥ ९३ ॥

भेदः स्वप्नाद्रिचिद्व्योम्नोर्न शून्याम्बरयोरिव ।
यदेव चिन्नभो नाम तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥ ९४ ॥

आकाशसे भी बढ़कर अणुता नामका धर्म कहाँ प्रसिद्ध है ? जो कि संविदाकाशका (ब्रह्मका) धर्म होगा, इसलिए आकाशसे भी बढ़कर अणुता उसका धर्म नहीं है। तब अणुता कहनेका तात्पर्य क्या है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'कारणा०' से जगत्का स्थूल आकार अणुरूप कारणके बिना नहीं बन सकता, यह कहनेके लिए उसे अणु कहा है ॥ ९२ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ईंट आदिसे नगर आदिकी उत्पत्ति दिखलाई देती है, अतः जगत्से ही जगत्की उत्पत्ति हो, न कि ब्रह्मसे। इसपर कहते हैं—'सर्गादा०' इत्यादिसे।

जो नगर आदि सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न नहीं हुआ वह जगत्से कैसे उत्पन्न हुआ ? दूसरी बात यह भी है कि स्वप्नमें ईंट आदिके बिना ही नगर आदि दिखाई देते हैं। जाग्रद्वेदनाकाशमें जो नगर है, वही हमारे सिद्धान्तमें स्वप्नमें भी नगर है और वहाँपर व्यभिचार स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ ईंट आदिसे नगरनिर्माण नहीं होता है ॥ ९३॥

इस प्रकार स्वप्नपदार्थ और जाग्रत्पदार्थोंका परस्पर भेद न होनेपर स्वप्नपदार्थोंका चिदाकाशसे भेद न होनेके कारण जाग्रत्पदार्थोंका भी चिदाकाशसे अभेद सिद्ध हो गया, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'भेदः' इत्यादिसे।

जैसे शून्य और आकाशका परस्पर कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही है वैसे ही स्वप्न-पर्वत और चिदाकाशमें भी परस्पर भेद नहीं है, दोनों अभिन्न हैं। जो चिदाकाश है, वही स्वप्न-नगर है ॥ ९४ ॥

उक्त अभेदमें स्पन्द-वायु और वायु-आकाश दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं—'यदेव' इत्यादिसे।

यदेव स्पन्दनं नाम स एव पवनो यथा।
स्पन्दास्पन्दैकरूपात्मा वायुर्व्योमोपमो यथा ॥ ९५ ॥

तस्माच्चिन्नभ एवेदं जगदाकृति लक्ष्यते।
सर्वं शून्यं निरालम्बं भासनं चिद्विवस्वतः ॥ ९६ ॥

शान्तमेवेदमखिलं निरस्तास्तमयोदयम्।
सकृद्विभातममलं दृषन्मौनमनामयम् ॥ ९७ ॥

तस्माद्वद कथं भावाः कुतो भावाः क्व भावधीः।
क्व द्वैतं क्वैकता क्वाऽहं क्व भावाः क्व च भावनाः ॥ ९८ ॥

नित्योदितो व्यवहरन्नपि निर्विकारो
द्वित्वैक्यमुक्तमतिरुत्तमशीतलोऽन्तः।
निर्वाण आस्स्व विगतामयशुद्धबोध-
बोधैकतामुपगतोऽङ्ग न सन्ति भावाः ॥ ९९ ॥

जैसे जो ही स्पन्दन है, वही वायु है और जैसे स्पन्दन और अस्पनन्दन स्वरूपवाला वायु आकाशसे अभिन्न है वैसे ही चिदाकाश और स्वप्ननगर अभिन्न हैं ॥ ९५ ॥

इसलिए चिदाकाश ही जगत्के आकारमें दिखाई देता है। यह सब चिद्रूपी सूर्यका निराधार प्रकाशन है ॥ ९६ ॥

यह समस्त जगत् जन्मविनाशरहित अखण्डस्फुरणरूप निर्मल निर्विकार पत्थरके समान स्तब्ध शान्त (ब्रह्म) ही है ॥ ९७ ॥

इस तरह चित्की प्रपञ्चशून्यता सिद्ध हुई, यह कहते हैं— 'तस्मात्' इत्यादिसे।

इसलिए जरा आप कहिए तो सही कैसे पृथिवी आदि पदार्थ हैं ? कहाँसे ये उत्पन्न हुए हैं, कहाँ पदार्थबुद्धि है ? कहाँ द्वैत है ? कहाँ अद्वैत है ? कहाँ मैं हूँ ? कहाँ पदार्थ हैं और कहाँ वासना है ? ॥ ९८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप निर्विकार शुद्ध बोधरूप तत्त्वके परिज्ञानसे उक्त तत्त्वमें एकरूप होकर सदा राज्यका परिपालन आदि व्यवहार करते हुए भी उसमें 'मैं कर्ता हूँ, यह अभिमान न होनेके कारण विकारसे रहित, परस्पर विरोधी द्वैत और अद्वैतसे

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सकलभावाभावोपदेशेन परमार्थैकताप्रतिपादनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

आकाशः शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रकोऽनिलः ।
तत्सङ्घोत्कर्षजं तेजस्तच्छान्तिश्चेत्यपां स्थितिः ॥ १ ॥

मुक्त होकर और अन्दर अत्यन्त शीतल हो निरतिशय आनन्दको प्राप्त होइये, क्योंकि विक्षेपके कारण ये पदार्थ नहीं ही हैं ॥ ९९ ॥

एकसौ तीन सर्ग समाप्त

एकसौ चार सर्ग

[जैसे आकाश आदिकी वायु आदिरूपता अनुभवसे सिद्ध है वैसे ही चित्‌की ही अनुभवतः जगद्रूपताका साधन]

चिन्मात्र ही स्वप्नकी भाँति जगत्‌के आकारसे प्रतीत होता है, ऐसा जो पहले कहा था, अनुभवका अवलम्बन होनेपर प्रमाणों द्वारा पदार्थतत्त्वकी जिज्ञासा कर रहे सभीको उसीकी शरणमें जाना होगा उसके सिवा दूसरा चारा है ही नहीं। भले ही आकाश आदिके क्रमसे सृष्टिकल्पना परम्पराओंसे अतिदूर जाकर ही उसका समाश्रयण करें, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए आकाशादिकी आचार्यप्रसिद्ध स्वरूपस्थिति कहते हैं—'आकाशः' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, शब्दतन्मात्र आकाश है और स्पर्शतन्मात्र वायु है। उन दोनोंके अत्यन्त संघर्षसे उत्पन्न हुआ रूपतन्मात्र तेज है। उक्त तेजकी शान्ति (ऊष्णता और रूक्षताके शमन द्वारा शीतलता द्रवत्वाश्रयरूप रसतन्मात्र) जलका रूप है। आकाश, वायु, तेज और जलका संघ (इनका मेलन होनेपर

भूरेषां सङ्घः स्वप्नाभे जगद्भाने क्रमस्त्विति ।
कथं नाम किलाऽमूर्ताद्व्योम्नो मूर्तिः प्रवर्तते ॥ २ ॥

गत्वा सुदूरमप्येतज्ज्ञसैश्चेत्परिकल्प्यते ।
तदादावेव सत्यर्थे दोषोऽस्मिन्क इवाऽमले ॥ ३ ॥

घनीभावका हेतु गन्धभाव) पृथिवी है। इस प्रकार चित्से ही स्वप्न-सदृश जगद्भान-में यह क्रम है। यहाँपर हमारा प्रश्न है कि अमूर्त आकाशसे पृथिवी-पर्यन्त मूर्त पदार्थ-संघ कैसे हुआ? इसके उत्तरमें यदि कोई कहे कि आकाशसे क्रियास्पर्शप्रधान वायु ही उत्पन्न होता है। वह रूपहीन होनेके कारण कुछ अंशमें आकाशके तुल्य और क्रियास्पर्शप्रधान होनेके कारण किसी अंशमें मूर्तके तुल्य है, इससे रूपतन्मात्रप्रधान मूर्त तेजको उत्पन्न करेगा, तो यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि निरवय कूटस्थ आकाश-से वायुकी ही सिद्धि नहीं हो सकती। कोई भी निश्चेष्ट तथा निरवयव पदार्थ न तो कुछ बना सकता है और न उसमें विकार ही हो सकता है। किञ्च, यदि वह सम्पूर्णरूपसे विकृत हो जाय, तो आकाशके अभावसे वायु आदिके लिए अवकाश ही नहीं रहेगा। यदि आधा या उससे कम आकाश विकृत होता है, यह मानो तो आकाश भी अवयववान् हो जायगा। यदि कहो अवयववान् भी हो क्या हानि है? तो समानरूपसे वही स्पर्शवान् क्रियावान् भी हो जायगा, ऐसी स्थितिमें वायु आदिकी उत्पत्तिकी व्यर्थता तथा निरवकाशता और एक आकाश और उसके अवयवोंकी भी निरवकाशता हो जायगी। इस प्रकार रूपरहित वायुसे भी रूपतन्मात्रकी उत्पत्तिका आरम्भसे (आरम्भ वादानुसार) या परिणामसे (परिणामवादानुसार) निरूपण करना कठिन ही नहीं असंभव ही है। कारण कि कारणके गुण कार्यके गुणोंके आरम्भक होते हैं, ऐसा नियम है। वायुमें रूपका अभाव है। परिपाकसे परिणाम होता है और तेजके बिना परिपाककी भी संभावना नहीं है, इसी प्रकार अग्नि, जल आदि उत्तरवर्ती भूतोंमें भी समझ लेना चाहिये ॥ २ ॥

यदि कोई कहे कि अनुभवबलसे ही कूटस्थ आकाशसे चलनात्मक वायुकी उत्पत्ति, रूपरहित वायुसे रूपवान् तेजकी उत्पत्ति; नीरस तेजसे रसरूप जलकी उत्पत्ति तथा गन्धहीन जलसे गन्धवती पृथिवीकी उत्पत्तिकी कल्पना करेंगे। अनुभव रूप भगवती संवित् ही हम लोगोंके सारे विरोधको हटाकर अनुभवानुरूप सब पदार्थों का समर्थन कर देगी। इसपर कहते हैं—'गत्वा' इत्यादिसे।

ज्ञप्तिरेवाऽतिविमला स्वरूपात्मनि भाति यत् ।
तदेव जगदित्युक्तं सत्यमित्येव सत्यतः ॥ ४ ॥
न क्वचित्सन्ति भूतानि पञ्च कुड्यादयो न वा।
असन्त्यप्यनुभूतानि ननु स्वप्नदशास्विव ॥ ५ ॥
स्वभाव एव विमलो यथा स्वप्ने पुरादिवत् ।
कचत्येवं जाग्रतीदं जगद्वस्तु तत्सुखम् ॥ ६ ॥
चेतनाकाश एवाऽहं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
इत्यहं जगदित्येकं खमेवैकं शिलाघनम् ॥ ७ ॥

यदि दूरकी उड़ान भर कर अन्तमें फिर लाचार होकर संवित्की ही शरण लेनी पड़ती है, तो पहले ही जैसे यह स्वप्न आदिमें स्वाप्न जगत्का वेष धारण करती है वैसे केवल विवर्तसे सारे जगत्का वेष धारण करती है, इस सर्वार्थसाधक निर्मल सिद्धान्तको मान लेनेमें कौन दोष है ? ॥ ३ ॥

उसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं—'ज्ञप्ति०' इत्यादिसे ।

अति निर्मल संवित् ही अपने स्वरूपमें भासित होती है, यह कथन 'वही जगत है' यों परमार्थ सत्यस्वरूप अधिष्ठानके बलसे तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि यथार्थवादिनी श्रुतिके बलसे सत्य ही है, यह सिद्धान्तरहस्य हम पहले ही कह चुके हैं ॥ ४ ॥

न तो कहींपर पाँच भूत हैं और न घट, कुड्य आदि भौतिक पदार्थ ही हैं, किन्तु फिर भी जैसे स्वप्न आदिमें भूतभौतिकशून्य चिति ही भूतभौतिकके समान सबको दिखलाई देती है वैसे ही जाग्रत्में असत् भी भूतभौतिकपदार्थ चितिबलसे सत्य-से अनुभूत होते हैं ॥ ५ ॥

जैसे स्वप्नमें चित्स्वभाव आत्मा ही नगर पर्वत, आदिके तुल्य प्रकाशित होता है वैसे ही जाग्रत्में भी वह सत् चित् सुखरूप आत्मा जगत्के समान प्रकाशमें आता है ॥ ६ ॥

मैं चेतनाकाश ही हूं, यह जगत् भी चेतनाकाश रूप ही स्थित है, इसलिए मैं और जगत् दोनों एक ही हैं । वस्तुतः केवल शिलाके समान ठोस चिदाकाशका ही अस्तित्व है ॥ ७ ॥

यदादिसर्गजननं यत्कल्पान्तनिवर्तनम् ।
यद्वा भुवनसंस्थानं तद्धि व्योम निराकृति ॥ ८ ॥
सति वाऽसति वा देहे
निर्दुःखसुखत्वमक्षयं मोक्षः ।
बुद्धेऽमले स्वभावे
निर्भरविश्रान्तिरस्तु सर्वेह ॥ ९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगदसत्ताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स्वभावं जगदाकारं चिद्भावोऽनुभवन्स्थितः ।
स्वतः स्वप्नमिवाऽनन्यमात्मनः कल्पनाभिधम् ॥ १ ॥

जो आदि सृष्टिमें जगत्की उत्पत्ति है और जो कल्पमें (प्रलयमें) उसकी निवृत्ति है अथवा जो जगत्की स्थिति है, वह निराकार चिदाकाश ही है ॥ ८ ॥

निर्मल आत्मस्वरूपके ज्ञात हो जानेपर जो दुःखलेशशून्य अक्षय सुखता (भूमानन्दरूपता) है, वही मोक्ष है । उक्त मोक्ष देहके रहते या न रहते एक सा है (जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिमें कोई भेद नहीं है)। उस मोक्षमें पूर्ण निर्भर विश्राम आपको प्राप्त हो । उतनेसे ही आपकी कृतकृत्यता है ॥ ९ ॥

एक सौ चार सर्ग समाप्त

एकसौ पाँच सर्ग

[चित्का ही जाग्रत्के तुल्य और चित्का ही स्वप्नके तुल्य भान होता है, इसलिए जाग्रत् और स्वप्नमें कोई अन्तर नहीं है, यह वर्णन]

जगत्की पूर्वोक्त स्वप्नसमानताका विस्तारसे वर्णन करनेके लिए पृष्ठ भूमि तयार करते हैं—'स्वभावम्' इत्यादिसे ।

चित्स्वभाव आत्मा अपनी कल्पनारूप अपनेसे अभिन्न स्वभाव जगदाकारका

जाग्रत्सुषुप्तमेवेदं शिलाजठरमेव वा ।
आकाशमेव वा शून्यं जगत्त्वेन च नोज्झितम् ॥ २ ॥
स्वप्न एवाऽत्र दृष्टान्तः पुरमण्डलमण्डितः ।
स्वप्ने जगन्न किंचित्सदित्थमाभाति भासुरम् ॥ ३ ॥
त्रैलोक्यमसदेवेदं यथा स्वप्नेऽवभासते ।
जाग्रत्यस्मिंस्तथैवेदं मनागप्यत्र नाऽन्यथा ॥ ४ ॥
न जाग्रति न च स्वप्ने जगच्छब्दार्थसंभवः ।
स्वं वस्तुतस्तु चिद्व्योम्नो भानं बुद्धं जगत्तया ॥ ५ ॥
चिद्व्योम्ना स्वचमत्कारो व्योमन्यद्र्यादिरूपभृत् ।
जगदित्येव बुद्धोऽन्तर्जाग्रत्स्वप्ने स्वयंभुवा ॥ ६ ॥

स्वयं अनुभव करता हुआ स्थित है । अर्थात् स्वप्नमें जिस प्रकार आत्मा अपनेसे अभिन्न अपनी कल्पनारूप पुर, नगर आदिका अनुभव करता हुआ स्थित रहता है वैसे ही जगदाकार अपने स्वभावका, जो अपनेसे अनन्य (अभिन्न) है और अपनी ही कल्पना है, अनुभव करता है ॥ १ ॥

यह जाग्रत्, जो कि जगत् रूपसे व्यक्त न होता हुआ अज्ञानरूप ही है, मूलतः शिलारूप ही है और अधिष्ठानरूपसे शून्य आकाश ही है, निरा स्वप्न है ॥ २ ॥

स्वप्न भी ऐसा ही होता है, अतः वही इसका ठीक-ठीक उदाहरण है, यह कहते हैं—'स्वप्न' इत्यादिसे ।

इस विषयमें विविध नगरोंसे अलंकृत स्वप्न ही दृष्टान्त है, स्वप्नमें जगत्का नामलेश भी नहीं रहता फिर भी वह इसी प्रकार देदीप्यमान प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

जैसे स्वप्नमें यह असत् ही त्रैलोक्य अवभासित होता है वैसे ही इस जाग्रद् अवस्थामें भी अवभासित हो रहा है, इसमें जरा भी स्वप्नसे निरालापन नहीं है ॥ ४ ॥

जगत्-शब्दके अर्थका (जगत्का) न तो जाग्रत्में संभव है और न स्वप्नमें ही संभव है, वस्तुतः चिदाकाशका जो स्वकीय अवभासन है उसे ही अज्ञानी जन जगत् मान बैठे हैं ॥ ५ ॥

अपने आप होनेवाले चिदाकाशने अन्धकारसे आवृत आत्मरूप आकाशमें पर्वत, नगर आदिका स्वरूप धारण करनेवाले अपने चमत्काररूप तमको जाग्रत्-स्वप्नमें जगत् समझा है ॥ ६ ॥

जगन्न किंचिदेवेदं चिद्रूपं च न किंचन ।
एते किंचिदिवाऽऽभातो नभश्चिज्जगती मुधा ॥ ७ ॥

आभातमेव त्रैलोक्यं यथा स्वप्ने न किंचन ।
शून्यमेव भवेदेवमेवं जाग्रति निर्वपुः ॥ ८ ॥

स्वप्ने किल महाबुद्धे नानानिर्माणशालिनि ।
आरम्भा एव नाऽऽरम्भा असत्सादिव चाऽऽततम् ॥ ९ ॥

अव्योमैवाऽतिविततं व्योमान्तपरिवर्जितम् ।
व्योमैवाऽचलसंघातो नानापुरगणोत्करः ॥ १० ॥

अप्यब्दाब्ध्यद्रिनिर्घोषो मौनमेव यथा तथा ।
न शृणोत्येव पार्श्वस्थः संप्रबुध्याऽपि किंचन ॥ ११ ॥

यह जगत् कुछ नहीं है (शून्य है), भास्यमान जगत्के शून्य होनेसे उसका भासक चित्‌का रूप भी कुछ नहीं है। ये अत्यन्त असत् चित् और जगत् (ग्राह्य और ग्राहक) ब्रह्ममें मुधा (मिथ्या) ही भासित होते हैं ॥ ७ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें भासित हुआ त्रैलोक्य वास्तवमें कुछ नहीं है, शून्य है वैसे ही जाग्रत् अवस्थामें भी भासित हो रहा यह त्रैलोक्य स्वरूपहीन (निराकार) शून्य ही है ॥ ८ ॥

हे महामते, विविध प्रकारके गृह, उपवन आदिकी निर्मितियोंसे शोभायमान स्वप्नमें आरम्भ अनारम्भ ही है और असत् सत्के समान व्याप्त है ॥ ९ ॥

ब्रह्म ही अत्यन्त विस्तृत शून्यरूप आकाश पहले बना और भूताकाश ही क्रमशः वायु आदि बनकर पर्वतसमूह और विविध नगरोंका समूह बना, यह महान् आश्चर्य है ॥ १० ॥

जैसे स्वप्नमें मेघों, सागरों और पर्वतोंकी गर्जन आदि ध्वनि सोये हुए एक स्वप्नद्रष्टा पुरुषके प्रति प्रख्यात होनेपर पासमें सोये हुए दूसरेके (स्वप्नके अद्रष्टाके) प्रति शून्य ही है, क्योंकि पासमें सोया हुआ पुरुष जागकर भी मेघ आदि या उनके गर्जनको कुछ भी नहीं सुनता, वैसे ही जाग्रत्-शब्द आदि भी शून्य ही हैं ॥ ११ ॥

प्रजायते वा जातोऽपि वन्ध्यायास्तनयो यथा ।
जातोऽप्यजात एवाऽऽस्ते यथाऽऽत्ममृतिविस्मृतौ ॥ १२ ॥
सदसद्भवति क्षिप्रं भुवोऽननुभवो यथा ।
विपर्यस्यति सर्वं च रात्रिरेव यथा दिनम् ॥ १३ ॥
असद्यत्संभवत्याशु दिनमेव यथा निशा ।
असंभवः संभवति यथा स्वमृतिदर्शनम् ॥ १४ ॥
असंभवः संभवति जगद्भानमिवाऽम्बरे ।
तम एव महालोको यः सनिद्रः स वासरः ॥ १५ ॥
आलोक एवैति तमो यन्निद्रा स्वप्नवासरा ।
वसुधैव भवेद्व्योम श्वभ्रादिपतने यथा ॥ १६ ॥
असत्यरूपमेवेति भाति स्वप्ने जगद्यथा ।
तथैव जाग्रदाभाति मनागप्यत्र नाऽन्यता ॥ १७ ॥

जैसे उत्पन्न न हुआ भी वन्ध्यापुत्र स्वप्नमें उत्पन्न होता है वैसे ही उत्पन्न न हुआ भी यह जाग्रत्-जगत् उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है एवं जैसे मरकर उत्पन्न हुआ भी पुरुष अपनी मृत्युकी विस्मृति होनेपर मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, यों समझता है वैसे यह जगत् उत्पन्न हुआ भी अनुत्पन्न ही है ॥ १२ ॥

जैसे स्वप्नमें सोये हुए पुरुषका अपनी शयनभूमिका अननुभव उसकी असत्ता सिद्ध करता है वैसे ही सत् वस्तु असत् हो जाती है और सब कुछ विपर्यासको प्राप्त हो जाता है जैसे कि रात्रि ही दिन हो जाती है ॥ १३ ॥

स्वप्नमें जो असत् है वह शीघ्र ही संभव हो जाता है जैसे कि दिन ही रात्रि हो जाता है और असंभव संभव हो जाता है जैसे कि अपनी मृत्यु का दर्शन ॥१४॥

स्वप्नमें असंभव संभव हो जाता है जैसे कि आकाशमें जगत्का भान, अन्धकार ही महान् प्रकाश बन जाता है और जो निद्रायुक्त (रात्रि) है, वह दिन बन जाता है ॥ १५ ॥

प्रकाश ही अन्धकार बन जाता है क्योंकि उल्लू आदिकी नींद ऐसी देखी जाती है कि उसमें दिन ही स्वप्नहेतु (रात्रि) बन जाते हैं । स्वप्नमें गड्ढेमें गिरनेका अनुभव होनेपर शयनभूमि ही गर्ताकाश (गड्ढा) बन जाती है ॥ १६ ॥

जैसे स्वप्नमें असत्यरूप ही जगत्का इस तरह भान होता है वैसे ही जाग्रत्-

यथा द्वौ सदृशौ सूर्यौ यथा द्वौ सदृशौ नरौ ।
जाग्रत्स्वप्नौ तथैवैतौ मनागप्यत्र नाऽन्यता ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

नैतदेवमपि क्षिप्रात्प्रत्ययो यत्र बाधकः ।
स्वप्ने तद्दर्शनेनाऽन्तः कथं जाग्रत्समं भवेत् ॥ १९ ॥

का भी मिथ्या ही भान होता है। स्वप्न जगत् एवं जाग्रत्-जगत् दोनोंमें तनिक भी अन्तर नहीं है ॥ १७ ॥

जैसे दो (कलका और आजका) सूर्य एक-से होते हैं जैसे दो (युग्मज) पुरुष एक-से होते हैं वैसे ही ये जाग्रत् और स्वप्न भी एक-से हैं। इनमें तनिक भी विलक्षणता नहीं है ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त जाग्रत् और स्वप्नकी समताका खण्डन कर उसमें विलक्षणता दिखला रहे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'नैतत्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जाग्रत् और स्वप्नमें तनिक भी अन्तर नहीं है, ऐसा जो आपने कहा, वह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नमें तो तुरन्त ही स्वप्नका बाध करनेवाली जाग्रत्प्रतीति होती है, उसके देखनेसे मनमें अपने आप ही स्वप्नकी आभासताका अनुभव हो जाता है, अतः जाग्रत् स्वप्नके तुल्य कैसे हो सकता है ? ॥ १९ ॥

केवल इतनेसे ही जाग्रत् जगत्की स्वाप्न जगत्से विलक्षणता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्न देशवाली जाग्रत्प्रतीति स्वप्नप्रतीतिकी बाधक नहीं हो सकती। स्वप्न-स्थानमें निद्रायुक्त स्वप्नदेहस्थ पुरुष स्वाप्न बन्धु-बाधवोंको देखता है स्वप्नदेहके निवृत्त होनेपर निद्रारहित जाग्रत्-देहस्थ होकर स्वप्नमें देखे हुए बन्धु आदिकी असत्ताका अनुभव करता है। अन्य देशमें अन्य देहसे देखे गये पदार्थोंका—देहान्तर और देशान्तरमें अन्यका दर्शन होनेपर—अदर्शन उनका बाध नहीं कहा जा सकता। पूर्वजन्मके बन्धु-बान्धवोंका इस जन्ममें दर्शन न होनेसे बाध भी तो है ही, इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्नमें समता ही है, वैषम्य नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'चिद्रूत्य' इत्यादिसे ।

वसिष्ठ उवाच

विहृत्य स्वप्नजगति स्वप्नबन्धुजनैः समम् ।
मृतिमाप्नोति तत्राऽसौ द्रष्टा स्वप्नस्य राघव ॥ २० ॥
मृतः सन्स्वप्नजगति स्वप्नजन्तुवियोगवान् ।
इह प्रबुध्यते जन्तुर्निद्रामुक्तश्च कथ्यते ॥ २१ ॥
सुखदुःखदशामोहान्दिनरात्रिविपर्ययान् ।
अनुभूय बहून्द्रष्टा म्रियते स्वप्नसंसृतौ ॥ २२ ॥
गतनिद्रतया पश्चान्निद्रान्त इह जायते ।
न सत्यमेतदित्येवं ततः प्रत्ययवान्भवेत् ॥ २३ ॥
स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमाप्तवान् ।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः प्रजायते ॥ २४ ॥
जाग्रद्द्रष्टा तथा जाग्रत्संसारे मृतिमाप्तवान् ।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥ २५ ॥
न स्वप्नमसदित्येवं पूर्वस्मिञ्जाग्रदात्मनि ।
पुनः प्रत्ययमादत्ते स्वप्नात्स्वप्नान्तरं गतः ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुवर, यह स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नसंसारमें स्वप्न-संसारके अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ विहार कर स्वप्नदेह-निवृत्तिमय मृत्युको प्राप्त होता है, स्वप्नसंसारमें मरकर स्वप्नके प्राणियोंसे वियुक्त होकर जीव जाग्रत्-संसारमें जागता है, और निद्रामुक्त कहा जाता है। स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नसंसारमें अनेकानेक सुख-दुःखदशाओं भ्रान्तियों तथा रात्रि और दिनके विपर्यासोंका अनुभव कर स्वाप्न शरीरका त्याग करता है। फिर नींद टूट जानेके कारण निद्राके अन्तमें शयनदेशमें उत्पन्न होता है और जाग्रत-देहसे सम्बद्ध होता है। तदुपरान्त ये स्वप्नमें देखे गये बन्धु-बान्धव सत्य नहीं थे, यह जानता है। जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नसंसारमें मृत्युको प्राप्त होकर (स्वाप्न शरीरका त्याग करके) दूसरे जाग्रन्मय स्वप्नको देखनेके लिए पुनः जाग्रत्-शरीरसे सम्बद्ध होता है वैसे ही जाग्रन्मय स्वप्न देखनेवाला जाग्रत्संसारमें मृत्युको प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न देखनेके लिए फिर पैदा होता है ॥ २०-२५ ॥

जैसे जाग्रत्में मरकर अन्य जाग्रत्में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्वजाग्रत-प्रपञ्चमें वह स्वप्न तथा असत् था इस प्रकारको प्रतीतिको प्राप्त नहीं होता वैसे ही एक स्वप्नसे

स जाग्रत्प्रत्ययं तत्र पुनर्गृह्णाति मुग्धधीः ।
स्वप्नसंदर्शनं त्वन्यत्तत्राप्यनुभवत्यथ ॥ २७ ॥
स्वप्नं जाग्रत्तया जाग्रत्स्वप्नत्वं चेति नामनि ।
न जायते न म्रियते जायते म्रियतेऽपि च ॥ २८ ॥
स्वप्न द्रष्टा स्वप्नमृतः प्रबुद्ध इह कथ्यते ।
इह जाग्रन्मृतो जन्तुः प्रबुद्धोऽन्यत्र कथ्यते ॥ २९ ॥
स्वप्नात्स्वप्नस्थितौ जाग्रज्जाग्रत्स्वप्नप्रदर्शनम् ।
मृत्वान्यत्र प्रबुद्धस्य जाग्रत्स्वप्नो भवत्यलम् ॥ ३० ॥
इतिहासमयावेव जाग्रत्स्वप्नावुभावपि ।
परस्परं गतावेतावुपमानोपमेयताम् ॥ ३१ ॥

दूसरे स्वप्नको प्राप्त हुआ पुरुष उत्तर (बादके) स्वप्नमें जाग्रत्प्रतीति ग्रहण करता है। उत्तर स्वप्नमें जाग्रत्प्रतीति जैसे भ्रान्ति है वैसे ही पूर्वजाग्रत्में स्वप्नता और असत्ताका ग्रहण भी मूढताप्रयुक्त (भ्रम) ही है। फिर स्वप्नमें भी अन्य स्वप्नदर्शनका अनुभव करता हुआ स्वप्नका ही जाग्रत्‌रूपसे अनुभव करता है इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न नामकी दोनों अवस्थाओंमें जीव न स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता है किन्तु तत्-तत् (जाग्रत् स्वप्नके) शरीरोंमें अभिमानके ग्रहण और त्याग द्वारा जन्म लेता है तथा मरता है ॥ २६-२८ ॥

स्वप्न देखनेवाला जीव स्वप्नमें मरकर जागरणमें जागा हुआ कहलाता है और यहाँ (जाग्रत्में) मरा हुआ स्वप्नमें जागा हुआ कहलाता है। इस तरह स्वप्न और जाग्रत्‌की समता ही है विषमता नहीं है ॥ २९ ॥

इस प्रकार एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें स्थिति होनेपर दूसरा स्वप्नही पहले स्वप्नकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे विशेष दर्शन यानी जाग्रत् होता है इसी प्रकार जाग्रत्में मरकर अन्य जाग्रत्‌रूप स्वप्नमें जागे हुए पुरुषका पूर्व जाग्रत् अवश्य स्वप्न है ॥ ३० ॥

जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही उपन्यासमय (उपन्यासके कथार्थके समान काल्पनिक) ही हैं यथार्थ नहीं हैं, इसलिए दोनों परस्पर एक दूसरेके उपमान-उपमेय बने हुए हैं। 'इतीहासमयौ' ऐसा दीर्घ पाठ होनेपर 'स्वप्न और जाग्रत् कुछ विलक्षण होनेपर भी' यह अर्थ है। उक्त पाठमें इति, इह, अथमं विषमं यान:—

स्वप्नो जाग्रद्दिवाऽऽभाति जाग्रत्स्वप्नमिवोदितम् ।
वस्तुतस्तु द्वयमसच्चित्खं कचति केवलम् ॥ ३२ ॥
स्थावरं जङ्गमं चैव भूतजातमशेषतः ॥
चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥ ३३ ॥
मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिच्चमत्कारमात्रात्म तथा काष्ठोपलाद्यपि ॥ ३४ ॥
वस्तुजातमिदं स्वप्ने जाग्रत्यपि तथैव नः ।
दृष्टो य उपलः स्वप्ने चिच्चमत्करणादृते ॥ ३५ ॥
किमन्यत्संवद प्राज्ञ किलाऽवश्यं चिदेव सा ।
ननु यादृग्वपुः स्वप्ने जाग्रत्तादृगखण्डितम् ॥ ३६ ॥

असमयौ ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिये । 'इतीहासन्मयौ' यह पाठ ठीक है। इस पाठमें जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही इस तरह असन्मय ही है, यह अर्थ है ॥ ३१ ॥

वर्तमान दशामें तो स्वप्न भी जाग्रतके तुल्य ही स्पष्टतया प्रतीत होता है, अतीत जाग्रत् भी प्रसिद्ध स्वप्नके समान ही उदित होता है। वास्तवमें दोनों असत् हैं केवल चिदाकाशका ही स्वप्न जाग्रतके रूपमें स्फुरण होता है ॥ ३२ ॥

स्थावर और जंगम समस्त प्राणी विचार करनेपर चिन्मात्रके सिवा और क्या ठहरते हैं, कुछ भी नहीं ठहरते ॥ ३३ ॥

जैसे मृण्मय (मिट्टीका बना) पात्र मिट्टीसे रहित हो यह कदापि संभव नहीं है वैसे काठ, पत्थर आदि सकल वस्तुएँ भी चित्-चमत्कार रूप ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ३४ ॥

जैसे हमारे स्वप्नकी सकल वस्तुएँ चिच्चमत्काररूप हैं वैसे ही जाग्रत्की भी सब वस्तुएँ चित्चमत्कार रूप ही हैं। भला बताइये तो सही स्वप्नमें जो पत्थर दिखाई देता है वह चित्के चमत्कारको छोड़कर और क्या हो सकता है ? हे प्राज्ञ, इस विषयमें विद्वानोंके साथ युक्तिपूर्वक विचार-विनिमय द्वारा निश्चय कीजिये। विचार-विनिमय द्वारा तत्त्वदृष्टि होनेपर वह स्वप्न पत्थर प्रसिद्ध चित् ही ठहरेगा। जैसा स्वप्नका स्वरूप है हूबहू ठीक वैसा ही स्वरूप जाग्रत्का भी है ॥ ३५,३६ ॥

जगज्ञातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्म खण्डितम् ।
जगज्ञातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्मकुट्टिमम् ॥ ३७ ॥
मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ३८ ॥
शैलात्मकं यथा भाण्डं शैलशून्यं न लभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ३९ ॥
द्रवरूपं यथा वारि द्रवरिक्तं न लभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ४० ॥
ऊष्मरूपो यथा वह्निर्निरूष्मा नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ४१ ॥
यथा स्पन्दमयो वायुरस्पन्दो नोपलभ्यते ।
चिन्मय तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ४२ ॥
यद्यन्मयं तद्विना तु तत्कथं किल लभ्यते ।
काऽशून्यं लभ्यते व्योम काऽघना लभ्यते मही ॥ ४३ ॥

इसलिए अध्यारापपक्षमें चिन्मात्र ब्रह्म ही जगत्के आकारसे विभक्त है और अपवादपक्षमें तो समस्त जगत् चिन्मात्र ब्रह्म हो गया है ॥ ३७ ॥

जैसे मृण्मयपात्र मिट्टीसे विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मयचेत्य (जगत्) चित्-शून्य (चिद्व्यतिरिक्त) नहीं दिखाई देता ॥ ३८ ॥

जैसे पत्थरका बना हुआ पात्र पत्थर-विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) भी चिद्भिन्न नहीं मालूम होता ॥ ३९ ॥

जैसे द्रवरूप जल द्रवहीन नहीं पाया जा सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चिद्-व्यतिरिक्त नहीं हो सकता जैसे उष्णतारूप अग्नि उष्णताशून्य मिले यह कदापि सम्भव नहीं है, वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) चिद्व्यतिरिक्त कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ ४०,४१ ॥

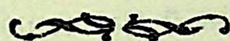
स्पन्दमय (चलन-स्वभाव) वायु कदापि स्पन्दशून्य नहीं प्राप्त हो सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चित्-शून्य कदापि नहीं मिल सकता ॥ ४२ ॥

जो वस्तु जिससे बनी है उसके बिना वह कैसे प्राप्त हो सकती है। आकाश अशून्य कहाँ मिलता है और पृथ्वी अमूर्त कहाँ प्राप्त हो सकती है ! ॥ ४३ ॥

चिद्व्योममयमेवेदं यथा घटपटादिकम् ।
स्वप्ने तथेदं शैलादि चिद्व्योमाभासमात्रकम् ॥ ४४ ॥

स्वप्ने यथा गगनमेव पुराचलादि
संविन्मयं सुभग जाग्रति तद्वदेव ।
स्वप्नोऽथ जाग्रदिति शान्तमनन्तमेकं
चिन्मात्रमत्र ननु नाम विनाऽस्तु वादः ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥



जैसे स्वप्नमें घट, पट आदि पदार्थ चिदाकाशमय ही हैं वैसे ही ये जाग्रत्के पर्वत, नगर आदि एकमात्र चिदाकाशके आभास हैं ॥ ४४ ॥

हे सुन्दर, जैसे स्वप्नमें प्रसिद्ध नगर, पर्वत, गृह आदि संविन्मय (चिन्मय) आकाश ही हैं वैसे ही जाग्रत्में प्रसिद्ध नगर, पर्वत आदि भी संविन्मय गगन ही हैं। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् विकल्पशून्य असीम अखण्ड चिन्मात्ररूप ही सिद्ध हुए। इस प्रकारके तत्त्वके विषयमें वादियोंका विवाद वृथा है ॥ ४५ ॥

एक सौ पाँच सर्ग समाप्त ।



षडधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

कीदृशं स्याच्चिदाकाशं तद् ब्रह्मन् ब्रह्म यत्परम् ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नाऽस्ति मेऽमृतम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

समयोर्यमयोर्भ्रात्रोर्व्यवहाराय नामनो ।
यद्वत्क्रियेते द्वे तद्वज्जाग्रत्स्वप्नशिलामये ॥ २ ॥

एक सौ छः सर्ग

[विविध लक्षणोंसे पुनः चिदाकाशका प्रदर्शन-सा किया जाता है और चिदाकाश ही जगत् है इसका विस्तारसे वर्णन]

विस्तारसे वर्णित जगत्की स्वप्न-तुल्यतासे जिस प्रकारका चिदाकाशमात्र तत्त्व ज्ञातव्य है, उसके स्वरूपका पहले एक बार नहीं सैकड़ों बार वर्णन हो चुका है तथापि शायद किन्हीं मन्दमतियोंकी समझमें न आया हो इस तरहकी संभावना कर उनके ऊपर दयावश पुनः उसीका स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षणोंसे खूब भलीभाँति उप-पादन सुननेके लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'कीदृशम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, जिसे आप परब्रह्म, चिदाकाश कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? कृपया और कहिए। यद्यपि आप पहले भी उसका लक्षण कह आये हैं, फिर भी आपके मुखारविन्दसे इस अमृतके तुल्य मधुर विषयको सुन रहे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १ ॥

पूर्व प्रस्तुत श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका उत्तर देनेके लिए श्रीवसिष्ठजी जाग्रत्-स्वप्नकी तुल्यताका रामचन्द्रजीके प्रश्नोत्तरकी पूर्वपीठिकाके रूपसे अनुवाद करते हैं—'समयोः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे समान रूपरेखावाले दो यमज भाइयोंके, व्यवहारके लिए, दो पृथक् नाम रक्खे जाते हैं वैसे ही अखण्ड चिद्रूपी शिलामय (अखण्ड-चिद्रूपी शिलामें प्रतिबिम्बितप्राय) समान रूपरेखावाले जाग्रत्-स्वप्नरूप दोनों प्रपञ्चोंके दो नाम रक्खे जाते हैं ॥ २ ॥

वस्तुतस्त्वनयोर्भेदो न द्वयोः पयसोरिव ।
द्वयमप्येकमेवैतच्चिन्मात्रं व्योम निर्मलम् ॥ ३ ॥
देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः ।
निमिषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥ ४ ॥
यादृशस्तिष्ठतः स्वच्छं रसमाकर्षतस्तरोः ।
भवेद्भावो नभःस्वच्छस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥ ५ ॥
विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः ।
यादृशः स्यात्समो भावस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥ ६ ॥
अनागतायां निद्रायां मनोविषयसंक्षये ।
पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ७ ॥
तृणगुल्मलतादीनां वृद्धिमागच्छतामृतौ ।
यः स्यादुन्ममतो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ८ ॥

दो जलोंकी तरह वस्तुतः इन दोनोंमें (जाग्रत् और स्वप्नमें) भेद नहीं है, ये दोनों निर्मल चिन्मात्र आकाशरूप एक ही हैं ॥ ३ ॥

उक्त चिदाकाशके पूर्वोक्त लक्षणका स्मरण कराते हुए प्रथम कहते हैं— 'देशाद्देशान्तरम्' इत्यादिसे ।

एक देशसे दूर दूसरे देशमें पलक भरमें गई हुई संवित्‌का मध्यमें जो निर्विषय रूप है, वही चिदाकाश कहा जाता है ॥ ४ ॥

जड़ोंसे पृथिवीका रस खींचते हुए वृक्षका जैसा ह्रासवृद्धिशून्य आह्लादभाव प्रसिद्ध है वैसा ही चिदाकाश कहा जाता है ॥ ५ ॥

जिसकी सकल कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हों, चित्त शान्त हो चुका हो, उस पुरुषका जैसा सकलवैषम्यशून्य सहजसुखस्वरूपानुभव है (कारण कि निर्विक्षेप दशामें 'मैं सुखपूर्ण हूँ' ऐसा सबको अनुभव होता है) वैसा ही चिदाकाश है ॥ ६ ॥

निद्रा आनेके पूर्व और जागरणके अन्तमें (नींद न आई हो तुरन्त आने ही वाली हो जागरणमें मनको भटकानेवाले विषयोंका नाश हो गया हो याने जागरणके अन्तमें) स्वस्थ पुरुषका जो भाव है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥ ७ ॥

वर्षाऋतु या शरदृऋतुमें वृद्धिको प्राप्त हो रहे पेड़, पौधे और झाड़ियोंका जो ममताहीन आनन्दभाव है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ ८ ॥

रूपालोकमनस्कारविमुक्तस्याऽमृतस्य यः ।
भावः पुंसः शरद्व्योमविशदस्तच्चिदम्बरम् ॥ ९ ॥

यदेतदासनं सृष्टं काष्ठपाषाणभूभृताम् ।
चेतनानां च सत्तात्म चिदाकाशः स उच्यते ॥ १० ॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः ।
यत्र वाऽस्तमयश्चित्खं तद्विद्धि विगतामयम् ॥ ११ ॥

यत उद्यन्ति यस्मिंश्च चित्राः परिणमन्त्यलम् ।
पदार्थानुभवाः सर्वे चिदाकाशः स उच्यते ॥ १२ ॥

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं स चिदाकाश उच्यते ॥ १३ ॥

दिवि भूमौ बहिश्चान्तस्तथाऽन्यस्य समाभिधः ।
यो विभात्यवभासात्मा चिदाकाशः स उच्यते ॥ १४ ॥

बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयोंके भोगसे रहित जीवित पुरुषका शरदाकाशके समान स्वच्छ जो भाव है, वही चिदाकाश है ॥ ९ ॥

ब्रह्माने काठ, पत्थर और पर्वतोंकी जो निश्चेष्ट स्थितिका निर्माण किया है वही यदि चेतन जीवोंकी सत्तात्मस्थितिरूप हो तो वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १० ॥

जिससे सुषुप्तिके साक्षी, स्वप्न और जागारके द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटीका उदय होता है और जिसमें अस्त होता है, उसे आप निर्विकार चिदाकाश जानिये ॥ ११ ॥

विविध प्रकारके सभी पदार्थज्ञान जिससे ही उदित होते हैं और जिसमें ही आलोचन, विमर्श, अध्यवसाय, हान और उपादानरूपसे उत्तरोत्तर परिणत होते हैं, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १२ ॥

जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सब उदित होता है, जो सर्वस्वरूप है, जिसने सबको सर्वतः व्याप्त कर रक्खा है और जो सदा सर्वमय है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १३ ॥

स्वर्गमें, भूमिमें, बाहर तथा अपने अन्दर और दूसरेके अन्दर जो समनामका ज्योतिःस्वरूप परमतत्त्व भासता है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १४ ॥

यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति ।
सदसदुत्थितं विश्वं विश्वाङ्गे तच्चिदम्बरम् ॥ १५ ॥
यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते यन्मयास्तच्चिदम्बरम् ॥ १६ ॥
निद्रायां विनिवृत्तायां यतो विश्वं प्रवर्तते ।
निवर्तते च यच्छान्तौ तच्चिदम्बरमुच्यते ॥ १७ ॥
यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत्सत्तालयोदयौ ।
स्वानुभूत्यात्मकं स्वान्तःस्थितं तद्विद्धि चिन्नभः ॥ १८ ॥
नेदं नेदं तदित्येवं सर्वं निर्णीय सर्वथा ।
यन्न किंचित्सदा सर्वं तच्चिद्व्योमेति कथ्यते ॥ १९ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
दूरतोऽर्धनिमेषेण तच्चिन्मात्रवपुः स्मृतम् ॥ २० ॥

जिस नित्य असीम विराट्में मजबूत तागेमें मालाकी तरह मूर्त और अमूर्त यह सारा जगत् स्थित है और जिससे उदित हुआ है, वह चिदाकाश है ॥ १५ ॥

जिससे सृष्टि और प्रलयरूप सब विकार उत्पन्न होते हैं, जिसमें लीन हो जाते हैं और जो सबका उपादान कारण है, वह चिदाकाश है । इससे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुतिसे उक्त तटस्थ लक्षण दिखलाया ॥ १६ ॥

सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्राके निवृत्त होनेपर जिस प्रत्यगात्मासे विक्षेपशक्तिवश जाग्र-स्वप्नरूप और आकाशादिस्वरूप विश्वका आविर्भाव होता है और विक्षेपशक्तिके शान्त होनेपर पूर्वोक्त विश्व विलीन हो जाता है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥ १७ ॥

जिसके उन्मेष और निमेषसे (पलक उठाने और गिरानेसे) जगत्सत्ताके प्रलय और उदय* होते हैं, स्वानुभवरूप जो अपने हृदयमें स्थित है, उसे आप चिदाकाश जानिये ॥ १८ ॥

यह नहीं है, यह नहीं है इस प्रकार सब तरहसे भली भाँति निर्णय कर जो कुछ नहीं है, सदा सर्वरूप वह चिदाकाश कहलाता है । इस प्रकार सर्वनिषेधका अवधि सर्वात्मरूप उसका लक्षण बतलाया है ॥ १९ ॥

आधे पलकमें (झटपट) दूरसे एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्तिमें मध्यमें जो

* निमेषसे—चरम साक्षात्कारवृत्तिके आविर्भावसे—जगत्की सत्ताका लय होता है । निमेषसे—स्वस्वरूपके आवरणसे जगत्-सत्ताका उदय होता है ।

विश्वं तन्मयमेवेदं यथाभूतं यथास्थितम्
रूपालोकमनस्कारैर्युक्तमप्येवमीदृशम् ॥ २१ ॥

ईषदुन्मेषणादेतदन्यतामिव गच्छति ।
अनन्यरूपमपि सच्चिद्व्योम विमलाकृति ॥ २२ ॥

पश्यन्नेवेन्द्रियैरर्थान्नूनं निर्वासनाशयः ।
प्रबुद्ध एवैकघनः सुषुप्तावस्थितो भव ॥ २३ ॥

निर्वासनः शान्तमना वद व्रज पिबाऽऽहर ।
पाषाण इव संजीवो नित्यं सुघनमौनवान् ॥ २४ ॥

संवित्‌का रूप है वह चिन्मात्रस्वरूप कहा गया है । अर्धोन्मेष इसलिए कहा कि विलम्ब होनेपर वृत्तिका विच्छेद होने या अन्य विषयका सम्पर्क होनेसे शुद्ध चिदाकाश नहीं पहिचाना जा सकता । उपक्रममें उक्तका पुनः कथन उपसंहार जतलानेके लिए है ॥ २० ॥

चिदाकाशके लक्षणोंके निरूपणकर उसकी अद्वितीयताकी सिद्धके लिए विश्वकी तन्मयता दर्शाते हैं—'विश्वम्' इत्यादिसे ।

बाह्य विषयभोगों और आभ्यन्तर विषयभोगोंसे युक्त तथा इस प्रकारका यथाभूत तथा यथास्थित यह साराका सारा विश्व चिन्मय ही है ॥ २१ ॥

ऐसी परिस्थितिमें प्रलयावस्थासे सृष्ट्यवस्थाकी भेदप्रतीति कैसे होगी ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'ईषत्' इत्यादिसे ।

निर्मल आकारवाला अनन्यरूप (एकरूप) होता हुआ भी यह चिदाकाश थोड़ेसे विकाससे अन्य-सा (भिन्न-सा) हो जाता है ॥ २२ ॥

उक्त अन्यताभ्रान्ति वासनावश होती है, जिसे वासना नहीं है, उसे उक्त भ्रम नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'पश्यन्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियोंसे पदार्थोंका अनुभव करते हुए ही आप वासनाशून्य अन्तःकरण होकर निरतिशय आनन्दरूप चिदात्माके ज्ञानसे युक्त हो सुषुप्तकी तरह स्थित होइये ॥ २३ ॥

वासनाविहीन शान्तचित्त आप चैतन्य रहते पाषाणवत् मौन धारणकर आत्मानन्दमें निमग्न हो बोलिये, भ्रमण कीजिये, पीजिये, भोजन कीजिये ॥ २४ ॥

इदं न संभवत्येव दृश्यं पश्यसि यत्पुरः ।
मृगतृष्णाजलमिव द्वैतमिन्दाविवोदितम् ॥ २५ ॥
इदमादावनुत्पन्नं कारणाभावतः किल ।
कारणेन विना कार्यं नहि नामोपपद्यते ॥ २६ ॥
यच्चोपपद्यते किंचित्तदकारणकोद्भवम् ।
यथास्थितं परं रूपमुद्भूतमिव लक्ष्यते ॥ २७ ॥
तद्यथास्थितमेवाऽङ्ग पूर्वरूपमवस्थितम् ।
भवत्यद्वयमेवाऽच्छं द्वयेनाऽप्युपलक्षितम् ॥ २८ ॥
तत्रेदंप्रत्ययः प्रौढो भवत्यनुभवो हि यः ।
समायातमिदं भ्रान्तं तत्स्वप्नस्त्रीसमं विदुः ॥ २९ ॥

जो यह दृश्य आगे आप देखते हैं, इसका मृगतृष्णा-जलके समान तथा चन्द्रमामें प्रतीत हो रहे द्वैतके (द्वित्वके) समान किसी प्रकार भी संभव नहीं हैं ॥ २५ ॥

कारणके अभाववश यह सृष्टिके प्रारम्भमें उत्पन्न ही नहीं हुआ । क्योंकि कारणके अभावमें कार्यकी उपपत्ति हो ही नहीं सकती ॥ २६ ॥

यदि कहिये कि जो कोई बीजसे अङ्कुर आदि कार्य, अन्वय-व्यतिरेकके दिखाई देनेसे, बिना कारणके उत्पन्न होता है, वह भी बिना कारणके उत्पन्न नहीं होता उसकी उत्पत्ति भी अद्वय ब्रह्मसे ही होती है ।

शङ्का—निर्विकार अद्वितीय ब्रह्मसे अङ्कुर आदिकी उत्पत्ति कैसे होगी ?

उत्तर—यथास्थित परमरूप ही उद्भूत-सा (विकसित हुआ-सा) प्रतीत होता है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्यों-का-त्यों ही वह पूर्वरूप स्थित रहता है फिर भी जैसे अद्वितीय भी चन्द्रबिम्ब भ्रान्ति होनेपर द्वित्वसे युक्त होता है वैसे ही वह भी भ्रान्तिसे उद्भूतसा प्रतीत होता है ॥ २८ ॥

अद्वितीय ब्रह्म ही वह है तो उसमें अन्यथा ज्ञान कैसे होता है ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

अद्वितीय ब्रह्ममें यह जगत् है इस तरहका जो दृढ प्रत्यय होता है, वह अनादि कालसे प्राप्त अज्ञानसे हुआ स्वप्नकी समागमके तुल्य है ॥ २९ ॥

तस्माद्दृश्यं न चोत्पन्नं नैवाऽस्ति न भविष्यति ।
न च नश्यति यन्नाऽस्ति तस्य किं नाम नश्यति ॥ ३० ॥
तत्तदेव परं शान्तं चिद्व्योमैव तथा स्थितम् ।
स्वरूपादच्युतं स्वस्थं सौम्यं जगदिवोदितम् ॥ ३१ ॥
नहीदमग्रे यद्दृष्टं दृश्यं तत्सत्कदाचन ।
न चाऽपि द्रष्टा दृष्टार्थाभावे क्व द्रष्टृता किल ॥ ३२ ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्द्रष्टृदृश्यावभासनम् ।
किमिदं कथमाभाति भूयोऽपि वदतांवर ॥ ३३ ॥

इसलिए न तो दृश्य उत्पन्न हुआ है, न इस समय है और न आगे होगा तथा न नष्ट होता है, जो है ही नहीं, उसका नाश क्या होगा ? ॥ ३० ॥

विश्व (जगत्) परम शान्त चिदाकाश ही है, चिदाकाश ही विश्वके आकारसे स्थित है । वह परिणामवश जगत्के आकारसे परिणत नहीं हुआ, किन्तु अपने स्वरूपसे च्युत हुए विना स्वस्थ सौम्य वह जगत्सा उदित हुआ है ॥ ३१ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि परिणामसे वह जगद्रूप क्यों नहीं होता ? तो इसपर उसकी (दृश्यकी) ब्रह्मसमानसत्ताका अभाव होनेके कारण उसका (द्रष्टाका) जगद्रूप परिणाम नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे ।

जो यह दृश्य है यह कभी पहले सत् नहीं देखा गया है, पदार्थोंके अभावसे द्रष्टा भी नहीं देखा गया, अतः द्रष्टृता भी नहीं है ॥ ३२ ॥

यदि द्रष्टा और दृश्य अत्यन्त असत् हैं, तो उनकी प्रतीति कैसे होती है । अत्यन्त असत्का तो कहीं भान नहीं दिखाई देता, यों श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'एवं चेत्' इत्यादिसे ।

हे ब्रह्मन्, यदि द्रष्टा और दृश्य असत् हैं, तो कृपया कहिये कि यह द्रष्टा और दृश्यका अवभास क्यों और कैसे होता है ? यद्यपि हे वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ, भगवन्, आप इस विषयका प्रतिपादन पहले कर चुके हैं तथापि पुनः कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ३३ ॥

श्रीरामजीकी शङ्कामें प्रथम श्लोक द्वारा असत्के भानका संभव स्वीकार कर द्वितीय श्लोक द्वारा सत् परमात्माका ही माया वश वैसा भान होता है, यह उत्तर देते

वसिष्ठ उवाच

असद्रूपस्य दृश्यस्य कारणाभावतः सदा ।
दृश्यताऽस्येत्यपि प्रौढिनिर्देशस्याऽत्यसंभवात् ॥ ३४ ॥
यदिदं भासते किंचिद् द्रष्टृदृश्यभ्रमात्मकम् ।
जगदादि परं रूपं तद्विद्धि परमात्मनः ॥ ३५ ॥
स्वप्ने चिन्मात्र एवाऽऽस्ते यथा गगनकाननम् ।
तथा जगत्तया भाति स्वयं चिन्मात्रमात्मनि ॥ ३६ ॥
इहाऽऽदिसर्गात्प्रभृति नाऽस्त्युपादानकारणम् ।
किंचनाऽपि क्वचिदपि भातीत्थं ब्रह्म केवलम् ॥ ३७ ॥
यश्चिदाकाशकचनं स्वयमात्मनि जृम्भते ।
तदिदं भाति तस्यैव जगदित्युदितं वपुः ॥ ३८ ॥

हैं—'असद्रूपस्य' इत्यादिसे ।

कारणके अभावसे असद्रूप दृश्यकी उत्पत्तिका ही संभव नहीं है, इसकी 'दृश्यता' यह भी प्रौढिनिर्देश है, प्रौढिवादका अत्यन्त असंभव है ॥ ३४ ॥

अतएव यह द्रष्टा, दृश्य असत्का रूप नहीं है, किन्तु परमार्थ ब्रह्मका रूप है, ऐसा कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

द्रष्टा दृश्य भ्रमरूप जो यह जगत् आदि कुछ भासता है, उसे आप परमात्माका परम रूप जानिये ॥ ३५ ॥

यह परमात्माका ही रूप है, यह कैसे जाना ? इस आशङ्कापर स्वप्नदृष्टान्तसे जाना, यह कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें चिन्मात्र ब्रह्म ही आकाश-उपवन बनता है वैसे ही चिन्मात्र अपनेमें अपने आप जगद्रूपसे भासित होता है ॥ ३६ ॥

यदि कोई कहे कि तब इसकी स्वप्नसमानता कैसे है; तो सकल कारणकलाप-शून्य सुषुप्तितुल्य प्रलयसे आविर्भूत होनेके कारण ही यह स्वप्नसमान है, ऐसा कहते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

यहाँ आदि सृष्टिसे लेकर कहींपर भी कुछ भी उपादान कारण नहीं है, केवल ब्रह्म ही इस प्रकार जगत्के रूपसे स्फुरित होता है ॥ ३७ ॥

अपने आप आत्मामें चिदाकाशका जो विशेष स्फुरण होता है, वह उसीका

यथा भावस्य भावत्वं यथा शून्यस्य शून्यता ।
आकारिणो यथाऽऽकारस्तथा चिन्नभसो जगत् ॥ ३९ ॥

इदं विद्धि चिदाभासं परमार्थघनं घनम् ।
इत्थं स्थितं स्वयं भातं द्रष्टृदृश्यदृगात्मकम् ॥ ४० ॥

वस्तुतस्तु द्वयाभावान्नाऽऽभासि न च भासनम् ।
किमपीदमनिर्देश्यं सद्वाऽसद्वेति वेत्ति कः ॥ ४१ ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्कार्यकारणतादिकः ।
कथं भेदः किमायातः कथं सत्यत्वमागतः ॥ ४२ ॥

जगत् नामसे आविर्भूत शरीर अवभासित होता है, चिदाकाश-स्फुरणके अधीन इसका स्फुरण है, इससे भी यह स्वप्नतुल्य है ॥ ३८ ॥

निर्धर्मक चिदाकाशकी जगद्धर्मकता कैसे ? ऐसी आशङ्का होनेपर मायिक विकल्पसे ही उसकी जगद्धर्मकता है, यों दृष्टान्तोंसे उपपादन करते हैं—"यथा" इत्यादिसे ।

जैसे भाव पदार्थका स्वभाव भावता है जैसे शून्यका शून्यता स्वभाव है तथा जैसे आकारवान्का आकार स्वभाव है वैसे ही चिदाकाशका जगत् स्वभाव है ॥३९॥

सैन्धवघनके समान एकरस परमार्थवस्तु ही मायामें चिदाभास इस प्रकार त्रिपुटीरूप होकर स्थित है; द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि रूप इसीको जानिए । मायाका त्याग होनेपर तो द्वैतका अभाव होनेसे न भासक है और न भासन है, अनिर्वचनीयरूप यह सत् है या असत् है यह कौन जानता है, क्योंकि बाधितका विचार ही क्या हो सकता है ? ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, 'न भास्य है और न भासन है' आपके इस कथनके अनुसार यदि परमार्थ तत्त्व द्रष्टा और दृश्य दोनोंसे शून्य है, तो कार्य-कारणतादिरूप भेद कैसे है ? द्रष्टाके बिना किसीकी सिद्धि नहीं हो सकती है । और दूसरी बात यह कि वह किस उपादान कारण या निमित्त कारणसे आया । यदि असत्य ही है, कहें तो कैसे सत्यताको प्राप्त हुआ अर्थात् कैसे सब लोगोंको सत्यरूपसे भासित होता है ? यह मुझे बतलानेकी कृपा करें ॥ ४२ ॥

वसिष्ठ उवाच

चित्प्रकाशो यथाभानं यदा भावयति स्वयम् ।
स्वात्मा तथा तदेवाऽऽशु पश्यसीत्यसि दृष्टवान् ॥ ४३ ॥
चिद्व्योमैवाऽयमाकारः स्वे व्योम्न्येव न मुह्यति ।
स्वयमेव यथा स्वप्ने कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४४ ॥
भावाद्भावान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
तच्चिद्व्योम तदेवेदं सर्वं च स्थिति नेतरत् ॥ ४५ ॥

पहले प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, अपना आत्मा भी चित्प्रकाश (ईश्वर) स्वयं जब प्राणियोंकी इच्छा, कर्म और वासनाके उद्बोधानुसार जिसकी जिस प्रकार (सत्यसंकल्परूपसे) भावना करता है, उसको उस समय आप वैसे ही देखते हैं और आपके रूपसे उसीने पूर्वोक्त द्रष्टा दृश्य भावका अनुभव किया। इससे कार्यकारणभावादि भेदकी सिद्धि है ॥ ४३ ॥

वह कार्यकारण भावादि आकार चिदाकाश ही है जैसे कि मिट्टी ही घड़ा है, इसलिए चिदाकाश ही इसका उपादान कारण है और मोह (अज्ञान) ही निमित्तकारण है।

शङ्का—यह कैसे प्रतीत होता है ?

उत्तर—चूँकि यह स्वरूपभूत चिदाकाशका ज्ञान होनेपर ही मोहको प्राप्त नहीं होता अन्यथा मोहको प्राप्त होता है। जैसे स्वप्नमें स्वयं ही मोहको प्राप्त होता है, आत्मप्रबोधसे मोहका त्याग करता है।

शङ्का—आत्मबोधमें समर्थ ईश्वर स्वयं जीव बनकर क्यों मोहको प्राप्त होता है, क्यों प्रबुद्ध नहीं होता ?

उत्तर—स्वतन्त्र ईश्वरसे 'आप समर्थ होकर भी क्यों मोहमें पड़ते हैं, ऐसा प्रश्न या आक्षेप करनेवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४४ ॥

दुग्धभावसे दधिभावकी प्राप्तिमें और पिण्डभावसे घटभावकी प्राप्तिमें पूर्वभावकी निवृत्ति होने और उत्तरभावकी उत्पत्ति न होनेपर मध्यमें पलकभरके लिए जो सन्मात्ररूपसे प्रसिद्ध परमार्थ सत्य संवित्का स्वरूप है, वही चिदाकाश है; यह मैं पहले कह चुका हूँ। वही (चिदाकाश ही) यह सब वस्तुरूपसे प्रतीत होता है अन्य नहीं, इसलिए इस सबपर सत्यताकी प्रतीति हुई है ॥ ४५ ॥

जैसे ईश्वरकी जीवभाव कल्पनापर कोई आक्षेप करनेवाला नहीं है वैसे ही

कार्यकारणभावादिदृशोऽविद्याविजृम्भिताः ।
जगद्वत्कल्पयत्येष कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४६ ॥
द्रष्टा भोक्ताऽथ कर्ता वा कश्चित्स्यादितरो यदि ।
तत्कथं किमिदं दृश्यमिति युज्येत नाऽन्यथा ॥ ४७ ॥
यत्र स्वप्ने निराभासं चिद्व्योमैव विराजते ।
शुद्धमेकमनेकात्म तत्र किं क विकल्प्यते ॥ ४८ ॥
आस्वयम्भुव एवेयं चिन्मात्रे भाति सर्गभाः ।
परिज्ञाता सती सा तु ब्रह्मैव भवति क्षणात् ॥ ४९ ॥
एषैव त्वपरिज्ञाता भ्रान्तिर्मायेति कथ्यते ।
जगदित्युच्यतेऽविद्या दृश्यमित्युपवर्ण्यते ॥ ५० ॥

जीवकी भी अपनी अविद्यासे कार्यकारणरूप अवस्थाओंकी (द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप अवस्थाओंकी) कल्पनामें भी आक्षेप करना युक्त नहीं है, यह कहते हैं—'कार्य-कारण०' इत्यादि से ।

यह अविद्यासे उत्पन्न हुई कार्यकारणभाव आदि दृष्टियोंकी जगत्‌की नाईं कल्पना करता है। इसके प्रति आक्षेप कर्त्ता कौन हो सकता है ? कोई भी अपने प्रति मैं किसलिये ऐसा करता हूँ, यों प्रश्न या आक्षेप नहीं कर सकता है, यह भाव है ॥ ४६ ॥

आत्मासे अन्यके कर्ता और भोक्ता होनेपर तो प्रश्न या आक्षेप हो ही सकता है, ऐसा कहते हैं—'द्रष्टा' इत्यादिसे ।

यदि द्रष्टा, भोक्ता और कर्ता कोई दूसरा हो तो कार्यकारण आदि भेद कैसे है और कौन इसका उपादान है ? यह प्रश्न बन सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ४७ ॥

जिस स्वप्नमें निराभास शुद्ध एक चिदाभास ही अनेक रूपोंसे विराजमान होता है, वहाँपर कौन किसपर आक्षेप करे ॥ ४८ ॥

स्वयम्भूसे लेकर ही यह सृष्टिभ्रान्ति तत्त्वके परिज्ञानके अभावसे चिन्मात्रमें प्रतीत होती है, तत्त्वज्ञान होनेपर तो वह तत्क्षण ब्रह्म ही हो जाती है ॥ ४९ ॥

यह सृष्टिभ्रान्ति ही तत्त्वतः परिज्ञात न होकर शास्त्रोंमें मायाके नामसे पुकारी जाती है, लोकमें 'जगत्' नामसे कही जाती है, अज्ञानियों द्वारा 'अविद्या' कही जाती है और तत्त्वज्ञानियों द्वारा 'दृश्य' नामसे वर्णित है ॥ ५० ॥

चिदाकाशप्रकाशेन चित्ता दृश्यपिशाचकः ।
वेतालो बालकेनेव बुद्धोऽसन्नेव सन्निव ॥ ५१ ॥
जगत्ताऽऽत्मन्यसत्याऽपि चिद्व्योम्नैवाऽनुभूयते ।
सत्येव साङ्गलेखेव स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥५२ ॥
अहमद्रिरहं रुद्रः समुद्रोऽहमहं विराट् ।
चेत्यते खे चितैवेति स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥ ५३ ॥
आकारि कारणाभावाज्जातं कार्यं न किंचन ।
महाप्रलयचिद्व्योम्नि चित्स्थितेत्थमिदन्तया ॥ ५४ ॥
अकारणकमेवेदं व्योम व्योम्नाऽनुभूयते ।
जगदित्येव शून्याङ्गं चिन्मात्रात्म चिदात्मनि ॥ ५५ ॥

जैसे अविद्यमान भी पिशाच बालकको अपनी कल्पना-वश विद्यमान-सा प्रतीत होता है वैसे ही चिदाकाशप्रकाशको अपना चित्स्वभाव, जो पृथक् सत् न होता हुआ भी सत्-सा जगत्-पिशाचके रूपमें ज्ञात हुआ है ॥ ५१ ॥

जैसे स्वप्नमें असत्में सत् प्रतीति और निरवयवमें सावयव प्रतीति होती है वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं—'दृश्याकाश०' इत्यादिसे ।

यद्यपि जगत्ता असत्य है, तथापि चिदाकाशको अपने स्वरूपमें ही उस का अनुभव होता है । जैसे स्वप्नमें चैतन्यकी नगरता और पर्वतता असत्य होते हुए भी सत्य-सी निरवयव होते भी सावयव-सी प्रतीत होती है वैसे ही यह जगत्ता सत्य और सावयवसी प्रतीत होती है ॥ ५२ ॥

मैं मेरु, हिमालय आदि पर्वत हूं, मैं रुद्र हूँ, मैं समुद्र हूँ, मैं विराट् हूँ, यों स्वप्नमें पर्वतता और नगरताकी प्रतीतिकी भाँति आकाशमें चित् ही अहंताके अध्याससे अनुभव करती है ॥ ५३ ॥

चित्-अनुभव ही सर्ग है, यह क्यों कहते हैं ? प्रधान, परमाणु आदि अन्यान्य कारणोंसे ही यह उत्पन्न हुआ है, यह क्यों नहीं कहते, इस आशङ्कापर कहते हैं— 'आकारि' इत्यादिसे ।

साकार कारणके अभावसे कुछ भी कार्य उत्पन्न नहीं हुआ, महाप्रलयरूपी चिदाकाशमें चित् इस तरह जगद्रूपसे स्थित है ॥ ५४ ॥

अवयवशून्य चिन्मात्ररूप यह आकाश बिना किसी कारणके ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाशमें जगद्रूपसे अनुभूत होता है ॥ ५५ ॥

सर्व एव जडा जीर्णा दर्पणा इव जन्तवः ।
समीपगत एवाऽन्तः कुर्वतस्तु विचारणम् ॥ ५६ ॥
तत्तत्स्वरूपमुत्सृज्य बुद्ध्वा चिन्मात्रखं जगत् ।
अश्मना चेतनेनैव स्थेयं नाऽऽस्थेतरोत्तमा ॥ ५७ ॥
यथाऽऽस्ते चलयद्देहं वार्यावर्तजगद्द्रवः ।
चेततीति तथा चित्त्वं स्थिता चित्तजगद्दृशा ॥ ५८ ॥
यथा कल्पद्रुमोऽभीष्टं कुर्याच्चिन्तामणिर्यथा ।
तथा यद्भावितं स्वान्तस्तत्पूरयति चित्क्षणात् ॥ ५९ ॥
चितिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
आशु संपादयत्यन्तरात्मनाऽऽत्मनि खात्मिका ॥ ६० ॥

सभी जीव-जन्तुओंने दर्पणके सदृश अपने अन्दर जगद्भेदकी कल्पना कर रक्खी है विचार न करनेसे (स्वरूपज्ञान सामर्थ्यसे शून्य होनेके कारण) जड़ होकर वे जीर्ण हो गये हैं। किन्तु विचार कर रहे पुरुषश्रेष्ठका तो परम पुरुषार्थ, प्रत्यगात्मरूपसे अपने अन्दर होनेके कारण, समीपगत ही है ॥ ५६ ॥

तत्-तत् नामरूपस्वरूपका त्यागकर परिशिष्ट चिन्मात्र आकाश ही है, यों जगत्को चिन्मात्र जानकर चिदेकघनको पत्थरके समान अचल होना चाहिये। इससे अतिरिक्त मायिक देहावस्था उत्तम नहीं है ॥ ५७ ॥

चित् कैसे जगत्के रूपसे स्थित है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'तथा' इत्यादिसे।

जैसे जल अपने शरीरको परिचालित करता हुआ आवर्त (जलभ्रमि), तरङ्ग आदिके रूपसे जगत्में द्रव होकर स्थित होता है वैसे ही चित् 'चेतनि' यों व्यापार रूप चित्ताकी अपनेमें कल्पना कर जगद्रूपसे स्थित है ॥ ५८ ॥

जब अल्पशक्तिवाले कल्पद्रुम आदि भी संकल्पित वस्तुओंकी कल्पना करनेकी शक्ति रखते हैं तब सर्वशक्तिमान् परमात्मामें उक्त शक्ति है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे कल्पवृक्ष अभीष्ट फल देता है और जैसे चिन्तामणि मन चाही वस्तु देती है वैसे ही चित् भी जिस वस्तुकी मनमें भावना की जाय, उसकी तत्क्षण पूर्ति कर देती है ॥ ५९ ॥

आकाशात्मक चिति चिन्तामणि और कल्पवृक्षके समान शीघ्र ही अपनेसे अपनेमें अभीष्ट (वाञ्छित) का सम्पादन करती है ॥ ६० ॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ मध्यदेशे चितेर्वपुः ।
यत्तन्मयमिदं दृश्यं कुतो द्वैतैक्यविभ्रमः ॥ ६१ ॥
चिच्छायैवं कचत्यच्छमनन्ता भास्वरोदरा ।
अङ्गरिक्ताऽपि दृश्याऽन्तःशून्यता नीलतेव खे ॥ ६२ ॥
विसदृशकार्यानुभवो
न भवति सहकारिकारणाभावात् ।
सर्गादावत आद्या
चिदेव दृश्यं यथा स्वप्ने ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कार्यकारणनिरासो नाम षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

पलक भरमें एक स्थानसे दूसरे स्थानमें प्राप्ति होनेपर मध्यमें जो चितिका अशेषविशेषशून्य स्वरूप है, तन्मय ही यह विश्व है, इसमें द्वैत और ऐक्य भ्रम कैसे हो सकता है ? ॥ ६१ ॥

इस तरह अनन्त भास्वर चित्प्रभा ही जगत्के वेषसे स्पष्टतया स्फुरित होती है । जैसे आकाशमें शून्यता नीलताके सदृश स्फुरित होती है वैसे ही अवयवरहित भी वह दृश्या है ॥ ६२ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें चित्से विसदृश (विलक्षण यानी जड़) कार्यका उद्भव नहीं हो सकता है, कारण कि विसदृशतामें निमित्तभूत सहकारी कारणोंका अभाव है । अर्थात् सुसदृश भी कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि भेदक कोई नहीं है, अतः कार्यत्वकी असिद्धि है । अतः आद्य चित् ही दृश्य है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह स्वप्न दृष्टान्तसे सिद्ध हो चुका ॥ ६३ ॥

एक सौ छः सर्ग समाप्त

सप्ताधिकशततमः सर्गः

अचेत्यचिन्मयं विश्वं विष्वगाभाति चिन्नभः ।
अत्र चिच्चेतनं चेदं चेत्यमप्येवमात्मकम् ॥ १ ॥
अतो जीवन्नपि मृत इव सर्वोऽवतिष्ठते ।
असावहं च त्वं चेति जीवन्तोऽपि मृता इव ॥ २ ॥
काष्ठमौनमृता एव व्यवहारगता अपि ।
खगमा एव वा सर्वे भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥ ३ ॥

एक सौ सात सर्ग

[अचेत्य पृथिवी आदिकी अवस्तुता तथा स्वप्नकी भाँति जगत् चित्‌का स्फुरण है, यह उपपादन]

विश्वके चेत्यभावका निराकरण कर उसमें चिन्मात्रता सिद्ध करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'अचेत्य०' इत्यादिसे ।

अचेत्य चिन्मय विश्व चिदाकाश चारों ओर भासित होता है, विश्वकी सिद्धि चिदाकाशमात्रके अधीन है, अतः उसे चिदाकाशरूप कहा । इसमें चित्, चेतन क्रिया और चेत्य यह त्रिपुटी चिन्मयी है यह प्रतिज्ञार्थ है । इस प्रतिज्ञामें शुद्ध चिदात्मक प्रतिज्ञार्थके रूपसे अभिप्रेत है, यह शेष है ॥ १ ॥

प्रतिज्ञा सिद्धिके दो फल हैं । स्थित जगत्‌के जगद्भावकी निवृत्ति और जी रहे हम लोगोंके जीवभावकी निवृत्ति, ऐसा कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे ।

इसलिए जीता हुआ भी यह सारा प्रपञ्च मरा सरीखा है । यह, मैं और तुम भी सब जीते हुए भी मरे-से हैं ॥ २ ॥

अथवा उक्त प्रतिज्ञासिद्धिका फल सब पदार्थोंकी कूटस्थता और अमूर्तता है, ऐसा कहते हैं—'काष्ठ०' इत्यादिसे ।

व्यवहारमें प्रतिष्ठित भी, सब प्राणी काठके समान मौनको अर्थात् अत्यन्त निष्क्रियता (निश्चेष्टता) रूप कूटस्थताको ही प्राप्त हैं अथवा सभी स्थावर-जंगम (चर-अचर) पदार्थ आत्यन्तिक अमूर्तताको प्राप्त हैं ॥ ३ ॥

अथवा आकाशकी नीलताके सदृश भासित हो रहे विश्वकी असत्यताका निश्चय उक्त प्रतिज्ञासिद्धिका फल जानिये, ऐसा कहते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे ।

आकाशकाचकच्यात्म यदिदं किंचिदाततम् ।
न किंचिदेव तद्विद्धि किंचिद्व्योम्नि कुतो भवेत् ॥ ४ ॥
केशोण्डूकनदीवाहधूमालीमौक्तिकादिवत् ।
यत्खं कचति तत्राऽस्ति नाऽनुभूतेऽपि वस्तुता ॥ ५ ॥
तथैवाऽस्मिञ्जगन्नाम्नि चिद्व्योम्नि कचने चितेः ।
अनुभूतेऽपि निःशून्ये काऽऽस्थाऽऽस्थाभावकश्च कः ॥६॥
चिद्बालकल्पनाजाले शून्यात्मनि निरर्थके ।
अवस्तुभूते पृथ्व्यादौ भ्रान्तिमात्राम्बरोदये ॥ ७ ॥
किमास्था बालका ब्रूत ममेदमहमित्यलम् ।
आ ज्ञातं रमते बालसंकल्पे बाल एव च ॥ ८ ॥

आकाशमें काच और केशोंकी नीलताके समान जो कुछ यह व्याप्त है, उसे आप शून्य ही (कुछ भी नहीं) जानिये। कारण कि चिंदाकाशसे क्या कहाँसे होगा ?

आकाशमें केशसमूहके समान नीलता, नदी, रथ, धूमपङ्क्ति और मोतियोंके सदृश जो आकाशका स्फुरण होता है, उसके अनुभूत (अनुभवमें आरूढ) होनेपर भी उसमें वस्तुता नहीं है ॥ ४, ५ ॥

आकाशमें स्फुरित हो रही मोतियोंकी मालाके सदृश ही जगत्-भ्रम है, उसमें भोगाशा करना ठीक नहीं है, ऐसा फलित कहते हैं—'तथैव' इत्यादिसे ।

वैसे ही इस जगत्-नामवाले चित्के स्फुरणरूप चिंदाकाशमें, जो अनुभूत होनेपर भी निश्शेषतः शून्य है, कौन आस्था है और आस्थाजनक कौन पदार्थ है ॥६॥

पृथिवी आदि प्रपञ्च चिद्रूपी बालककी कल्पनाओंका राशिरूप है, शून्यरूप है, व्यर्थ है, अवस्तुरूप है, भ्रान्तिमात्रसे आकाशमें उदित है, अतः इसमें भोगास्था कैसे संभव है ॥ ७ ॥

हे मूढ़ लोगो, कहो तो यह मेरा है यह मैं हूँ इस प्रकारकी आस्था क्या ठीक है ? अर्थात् अनुचित है ।

प्रश्न—यदि आस्था अनुचित ही है, तो क्यों लोग उसपर आस्था करते हैं ?

उत्तर—हाँ, ठीक है, जैसे बालकके संकल्पमें बालकको ही दिलचस्पी है अन्यको नहीं वैसे ही मूर्खजन ही इस असत्प्राय प्रपञ्चपर आस्था करते हैं, अभिज्ञ नहीं ॥ ८ ॥

पृथ्व्याद्यसद्विचारैर्वा व्यर्थं यास्यति जीवितम् ।
किंचिच्च न ज्ञास्यति भोराकाशक्षालनोद्यतः ॥ ९ ॥
सहकार्यादिपूर्वाणां कारणानामभावतः ।
यदादावेव नोत्पन्नं तन्नामाऽद्य भवेत्कुतः ॥ १० ॥
अजातेनाऽसताऽर्थेन खेन व्यवहरन्ति ये ।
मूढा मृतमजातं वा तनयं पालयन्ति ते ॥ ११ ॥

अतएव जिन्हें तनिक भी विवेककी झलक प्राप्त हो गई है, उन्हें असत् पृथिवी आदिका लाभ करानेवाला विचार, जो जन्मको निष्फल ब॰ानेवाला है, छोड़कर जन्मको सफल बनानेवाले वैराग्य आदि साधनोंका सहारा लेना चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'पृथ्व्याद्य०' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदि असत्-पदार्थोंके विचार-विमर्शोंसे जन्म वृथा बीत जायगा, हे आकाशको धोनेका उद्योग करनेवाले मूर्खजीव, तेरे हाथ कुछ भी न लगेगा । जैसे सुवर्ण, रत्न आदिके लोभकी इच्छासे प्रवृत्त आदमी यदि सोने और हीरेकी खानको धोना-पोंछना छोड़कर आकाशको धोने-पोछने लगे, तो चाहे कितनी ही मेहनत क्यों न करे फल कुछ न देखेगा वैसे ही पृथिवी आदि असत् पदार्थोंका विमर्श भी आकाश धोनेके तुल्य वृथा ही है, यह भाव है ॥ ९ ॥

पृथिवी आदिकी असत्ताका, कोई कारण न होनेसे अनुत्पत्ति द्वारा, पहले उपपादन कर चुके हैं, ऐसा कहते हैं—'सहकार्या०' इत्यादिसे ।

सहकारी आदि कारणोंके अभावसे जो सृष्टिके प्रारम्भमें ही उत्पन्न नहीं हुआ भला बतलाइये तो वह आज कहाँसे उत्पन्न होगा ? ॥ १० ॥

इस व्यवहारमें तल्लीनता विद्वानोंके लिए हास्यास्पद ही है, ऐसा कहते हैं—'अजातेन' इत्यादिसे ।

जो लोग कभी उत्पन्न न हुए अतएव असत् आकाशतुल्य पृथिवी आदि शून्य पदार्थसे व्यवहार करते हैं वे मूढ़ अजात (उत्पन्न न हुए) मृत पुत्रका लालन-पालन करते हैं ॥ ११ ॥

तात्त्विक दृष्टिमें पृथिवी आदिकी अत्यन्त असंभावना अपने अनुभव-बलसे कहते हैं—'कुतः' इत्यादिसे

कुतः पृथ्व्यादयः केन के नाम कथमुत्थिताः ।
चिद्व्योमेत्थमिदं शान्तं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि ॥ १२ ॥
कार्यकारणकालादिकल्पनाकुलचेतसाम् ।
एवं पृथ्व्यादयः सन्ति तैर्बालैरलमस्तु नः ॥ १३ ॥
अपृथ्व्यादि जगन्नाम सपृथ्व्यादि च खात्मकम् ।
कचतीत्थं नभोरूपं स्वप्नादिष्विव चिन्मणिः ॥ १४ ॥
अङ्ग यदेतस्य चिदम्बरस्य
निराकृति स्वानुभवानुमानम् ।
तदेतदाभाति महीतलादि-
रूपेण वेद्येति कृताभिधानम् ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु
निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्याभावप्रतिपादनं
नाम सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

ये पृथिवी आदि कहाँसे हुए, किससे हुए और कैसे हुए ? इनका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार यह शान्त चिदाकाश ही अपनेमें अपने-आप स्फुरित होता है ॥१२॥

मूढदृष्टिको तो हम प्रमाण नहीं मान सकते, ऐसा कहते हैं—'कार्य०' इत्यादिसे।

कार्य, कारण, काल आदिकी कल्पनावश व्याकुल चित्तवाले जिन मूढ़ोंकी दृष्टिमें इस तरह पृथिवी आदि हैं, उन मूढ़ोंसे हमें कोई मतलब नहीं है ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञोंकी दृष्टिमें पृथिवी आदिसे रहित और मूढ़ोंकी दृष्टिमें पृथिवी आदिसे युक्त जगत् चिदात्मक है या स्वप्नका पृथिवी आदिसे रहित जगत् और जाग्रत्में प्रसिद्ध पृथिवी आदिसे युक्त जगत् दोनों ही चिदाकाशरूप हैं । जैसे स्वप्न आदिमें चित्रूपी मणि पृथिवी आदिके रूपमें स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश इस प्रकार जगत्के रूपसे स्फुरित होता है ॥ १४ ॥

स्वानुभवैक वेद्य जो इस चिदाकाशका निराकार स्वरूप है, वही यह महीतल आदि रूपसे वेद्य, दृश्य नाम धारण कर उस तरह स्फुरित होता है ॥ १५ ॥

एक सौ सात सर्ग समाप्त

अष्टाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अविद्या दृश्यरूपेयं कचन्ती यस्य विद्यते ।
चिन्नभःस्वप्ननगरी दृश्यमानाऽपि शून्यकम् ॥ १ ॥
तस्याऽज्ञस्य कियत्कालं किंरूपा स्यात्किमात्मिका ।
कियती सा च वेत्त्येवं मुने मे कथ्यतां पुनः ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

अविद्या विद्यते येषामज्ञानां भूतलादिका ।
तेषामस्यां ब्रह्मणीव नाऽस्त्यन्तोऽत्र कथां शृणु ॥ ३ ॥

एक सौ आठ सर्ग

[अविद्याके विनष्ट हुए बिना कहीं भी जगत्‌का अन्त नहीं है ? इस विषयमें विस्तारके साथ मनोरञ्जक अविद्याख्यानका वर्णन]

पूर्ववर्णित संसाररूपी अविद्याका तत्त्वज्ञानसे त्रैकालिकी असत्तापत्तिरूप बाध हुए बिना देशतः या कालतः अन्त हो सकता है या नहीं ? यों सन्देहमें पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'अविद्या' इत्यादिसे ।

हे मुनीश्वर, यह चिदाकाशकी स्वप्ननगरीरूप अविद्या, जो विद्यमान होती हुई भी शून्यरूप अथच दृश्यरूप है, बाध न होनेके कारण जिस पुरुषके प्रति स्फुरित होती हुई विद्यमान है, उस अज्ञानीके प्रति वह कब तक रहती है, उसका क्या स्वरूप है, क्या उपादान है अथवा देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है यह सब मुझसे पुनः कहनेकी महती कृपा कीजिये ॥ १, २ ॥

उक्त सन्देहकी दूसरी कोटिको (देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है, इस अंशको) लेकर वसिष्ठजी उसे पुष्ट करनेके लिए 'विपश्चित्' कथा सुनानेके उद्देश्यसे श्रीरामचन्द्रजीको सावधान करते हैं—'अविद्या' इत्यादिसे ।

जिन अज्ञानियोंमें भूतल आदिरूप अविद्या विद्यमान है, उनका जैसे ब्रह्ममें देशतः कालतः अन्त (परिच्छेद) नहीं है वैसे ही इसमें भी देशतः कालतः अन्त नहीं है । इस विषय में उपपत्ति करानेवाली इस कथाको सुनिये ॥ ३ ॥

सदृशं जगतोऽस्याऽस्ति क्वचिदम्बरकोणके ।
कस्मिंश्चिच्चित्रजगत्किंचिदनयैव व्यवस्थया ॥ ४ ॥
अस्ति कश्चिद्भुवो भागो भूषणं तत्र भूस्थितेः ।
पुरी ततमितिर्नाम्ना सुव्यक्तकलनाऽवनौ ॥ ५ ॥
तत्राऽऽसीत्पार्थिवः कश्चिद्विपश्चिदिति विश्रुतः ।
यः सभायां सुसभ्यायां विपश्चित्त्वाद्विराजते ॥ ६ ॥
राजहंस इवाऽब्जिन्यामृक्षचक्र इवोडुराट् ।
सुमेरुरिव शैलौघे यः सभायामराजत ॥ ७ ॥
निवर्तते यतोऽशक्त्या वचनं गुणवर्णनात् ।
कवीनामचलाकारा भवेद्धा भूधरो यथा ॥ ८ ॥

लोकालोक पर्वतकी सुवर्णशिलासे स्वच्छ किसी वस्तुमें स्थित चिदाकाशके कोनेमें, उस कोनेके भी किसी एक भागमें, इस त्रैलोक्यके तुल्य कोई जगत् इसी जगत्प्रसिद्ध भुवन, द्वीप, देश, काल आदिकी व्यवस्थासे युक्त है ॥ ४ ॥

उसमें जम्बूद्वीप नामक भूमिका भूषणभूत कोई एक भूमिभाग है। उसमें भी पर्वत, चहारदिवारी, बालू आदिसे होनेवाली विषमता न होनेमें (समथल भूमि होनेसे) मनुष्य, हाथी, घोड़े, रथ आदिके गमनागमन आदि व्यवहारसे युक्त भूमिमें (समभूमिमें) ततमिति नामसे विख्यात एक नगरी थी ॥ ५ ॥

उस नगरीमें विपश्चित् नामसे विख्यात राजा था, सकल शास्त्रोंमें विशेष विद्वान् होनेके कारण, विशिष्ट सभ्योंसे पूर्ण अपनी राजसभामें वह विशेषरूपसे शोभित होता था, जैसे कमलिनीमें राजहंस शोभित होता है, जैसे नक्षत्रमण्डलमें चन्द्रमा विराजमान होता है और जैसे पर्वत श्रेणियोंमें सुमेरु शोभा पाता है, वैसे ही वह अपनी सभामें शोभा पाता था ॥ ६, ७ ॥

सर्वत्र उत्तरोत्तर गुणोंके उत्कर्ष-वर्णनमें प्रवृत्त कवियोंकी सूक्तियाँ उस विपश्चित्-रूप चरमसीमा (अवधि) से गुणोंकी अनन्तता और निरुपमताके कारण वर्णन न कर सकनेसे लौट जाती थीं (वर्णन नहीं कर सकती थीं)। फिर भी कविजन उसका सत्संग करते ही थे, क्योंकि उससे कवियोंकी पर्वतके तुल्य विशाल स्थिर, सम्पत्ति, ख्याति और गुणोंके उत्कर्षसे उत्पन्न शोभा प्राप्त होती थी। जैसे मेरु अपने आश्रित लोगों मृगों, तृणों और झाड़ियोंको अपनी कान्तिसे स्वर्णमय बना देता है वैसे ही वह भी सम्पत्ति प्रदान कर उन्हें स्वर्णमय बना देता था ॥ ८ ॥

प्रातः प्रातर्विकसितात्सर्वाशाभासनोद्यतात् ।
यतः प्रतापजनितश्रीरुदेत्यम्बुजादिव ॥ ९ ॥
स ब्रह्मण्यमतिर्मानी वह्निमेवाऽधिदैवतम् ।
अपूजयत्समं भक्त्या देवं वेत्ति स्म नेतरम् ॥ १० ॥
समत्स्यमकरव्यूहा गजवाजिगणान्विताः ।
आवर्तचक्रव्यूहाढ्याः कल्लोलबलमालिताः ॥ ११ ॥
मर्यादापालने युक्ता अकम्पनबलाधिकाः ।
मन्त्रिष्वप्यस्य चत्वारो दिक्षु सत्सागरा इव ॥ १२ ॥
तैरशेषककुप्चक्रनाभिराभासितावनिः ।
आसीत्सुदुर्जयो जेता स सुदर्शनचक्रवत् ॥ १३ ॥

जैसे अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको जगमगानेवाले प्रातःकालमें खिले हुए कमलसे सूर्यके आतपसे उत्पन्न हुई शोभा प्रकट होती है वैसे ही प्रसन्नवदन तथा अपनी कान्तिसे सकल दिशाओंको उद्भासित करनेमें उद्यत राजा विपश्चित्से, प्रखर प्रतापसे उपार्जित सम्पत्तियाँ कवियोंको प्रातः प्रातः प्राप्त होती थीं ॥ ९ ॥

राजा विपश्चित्को सदा ब्राह्मणोंके हितका खयाल रहता था, अतएव देवताओंमें वह्निके ब्राह्मण होनेके कारण वह देवताओंमें अग्निकी ही भक्तिके साथ पूजा करता था, अग्निके सिवा और किसी देवताको जानता तक न था ॥ १० ॥

उक्त राजाके मन्त्रियोंमें से चार मन्त्री, जो अत्यन्त धीर, विपुलबाहुबलशाली, निर्भय सेनासे प्रभावान्वित थे, चार दिशाओंमें चार सागरोंकी भांति शत्रुसेनाके निरोधके साथ देशव्यवस्था करनेके लिए नियुक्त थे। सागर मछलियों और मगरोंके झुण्डके झुण्डसे भरे रहते हैं तो मन्त्री हाथी, घोड़ोंसे युक्त थे, समुद्र आवर्तोंकी (जलभ्रमियोंकी) राशियोंसे भरे रहते हैं तो मन्त्री सेनाके विविध व्यूहोंसे युक्त थे और समुद्र ज्वारभाटोंसे घिरे रहते हैं तो मन्त्री विशाल सेनासे घिरे रहते थे ॥ ११,१२ ॥

उन मन्त्रियोंके कारण वह राजा सकल दिशारूपी पहियोंका नाभिकी (हालकी) तरह आधारभूत बनकर सुदर्शन चक्रके समान शत्रुओं द्वारा अनभिभवनीय (अतिरस्करणीय) और स्वयं विजेता हो गया था ॥ १३ ॥

तमेकदा ययौ पूर्वदिङ्मुखाच्चतुरश्चरः ।
स उवाच रहो रंहोगतिघोराक्षरं वचः ॥ १४ ॥

देव दोर्द्रुमविश्रान्तधरागोबन्धनाच्युत ।
श्रूयतां मन्मुखात्पश्चाद्यथाप्राप्तं विधीयताम् ॥ १५ ॥

पूर्वदिङ्मुखसामन्तो ज्वरेणाऽस्तमुपागतः ।
मन्ये जेतुं यमं यातस्त्वयाऽऽरब्धो जितारिणा ॥ १६ ॥

तस्मिन्समन्ततो जेतुं दक्षिणापथनायकः ।
पूर्वापराभ्यामाक्रम्य बलाभ्यामरिणा हतः ॥ १७ ॥

तस्मिन्मृते समागम्य यावद्वारुणदिक्पतिः ।
बलेनाऽऽयाति ककुभौ ते समादातुमादृतः ॥ १८ ॥

पूर्वदेशनृपैः सार्धं दक्षिणापथपार्थिवैः ।
तावदेवाऽरिभिरसावर्धमार्गे रणे हतः ॥ १९ ॥

एक समय पूर्व दिशासे एक चतुर गुप्तचर उसके पास आया । उसने एकान्तमें राजासे कालगतिके समान अनिवार्य होनेके कारण कर्णकटु वचन कहा ॥ १४ ॥

भगवन्, विशाल बाहुरूपी वृक्षोंपर डाले हुए पृथ्वीरूपी गऊके बन्धनसे आप कभी विमुख नहीं हुए यानी सदा पृथिवीको आपने अपनी बाहुओंपर बाँध रक्खा है । आप कृपाकर मेरे मुंहसे वृत्तान्त सुनिये और फिर जो समयोचित हो उसे करनेकी कृपा कीजिये ॥ १५ ॥

महाराज, पूर्व दिशाके सामन्तकी ज्वरसे मृत्यु हो गई है। मानो शत्रुओंको परास्तकर चुके आपसे आज्ञा पाकर वे यमराजको जीतनेके लिए यमलोक चले गये हैं ॥१६॥

उनके मरनेके उपरान्त दक्षिण दिशाके अधिपति (आपके सामन्त) चारों ओरसे पूर्व और दक्षिण दिशाको स्वायत्त करनेके लिए उद्यत हुए, किन्तु उन्हें भी शत्रुने पूर्व और पश्चिमकी सेनाओं द्वारा आक्रमणकर मार डाला ॥ १७ ॥

उनके मर जानेके उपरान्त पश्चिम दिशाके अधिनायक (आपके सामन्त) ज्यों ही सेना बटोर कर आपकी पूर्व और दक्षिण दिशाओंको शत्रुसे मुक्त करनेकी इच्छासे जा रहे थे त्यों ही रास्तेमें शत्रुओंने पूर्व देश और दक्षिण देशके राजाओंके साथ संग्राममें उन्हें मार दिया ॥ १८, १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

अथाऽस्मिन्कथयत्येवं त्वरार्तमपरश्चरः ।
उपप्लवो जडोत्पीड इव हर्म्यं विवेश ह ॥ २० ॥

चर उवाच

उत्तराशाबलाध्यक्षो देवारिभिरुपद्रुतः ।
इत आयाति सबलो भग्नसेत्वम्बुपूरवत् ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति श्रुत्वा महीपालः कालक्षेपमवास्तवम् ।
मन्यमान उवाचेदं निर्गच्छन्वरमन्दिरात् ॥ २२ ॥
राज्ञः सन्नह्य सामन्तानानीयन्तां च मन्त्रिणः ।
उद्घाट्यन्तां हेतिशाला दीयन्तां घोरहेतयः ॥ २३ ॥
श्लेष्यन्तां कङ्कटा देहेष्वागच्छन्तु पदातयः ।
गण्यन्तामाशु सैन्यानि क्रियन्तां वरकल्पनाः ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उक्त गुप्तचर जल्दी जल्दी राजासे यह कह ही रहा था कि प्रलयमें जलप्रवाह (बाढ़) के समान दूसरा गुप्तचर राजप्रसादमें प्रविष्ट हुआ ॥ २० ॥

गुप्तचरने कहा—महाराज, उत्तर दिशाके अधिनायक (आपके सामन्त) शत्रुओं द्वारा आक्रान्त होकर जिसका बाँध टूट गया ऐसे जलप्रवाहके समान सेना सहित इधर ही आ रहे हैं ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, यह सुनकर राजाने विलम्बको सब वस्तुओं और महलोंके लिये खतरनाक समझकर सुन्दर प्रासादसे निकलते हुए यह कहा—

राजगण, सामन्त और मन्त्रिगण हरबा-हथियारसे लैस कर लिवा लाये जायँ, शस्त्रागार खोल दिए जायँ, सबको भीषण अस्त्र-शस्त्र बाँटे जायँ, सैनिक कवच पहन लें पैदल सेनाएँ जल्दी कूच करें, तुरन्त सेनाकी गिनती की जाय, श्रेष्ठ श्रेष्ठ सैनिकोंको प्रोत्साहित किया जाय, सेनाध्यक्षोंकी नियुक्तियाँ की जायँ और चारों ओर गुप्तचरोंका जाल बिछाया जाय ॥ २२–२४ ॥

कल्प्यन्तां च बलाध्यक्षाः प्रेष्यन्तामभितश्चराः ॥ २४ ॥

वसिष्ठ उवाच

वदत्येवं त्वरायुक्तं संरम्भवति राजनि ।
प्रतिहार उवाचेदं प्रविश्याऽऽकुलमानतः ॥ २५ ॥

प्रतिहार उवाच

उत्तराशाबलाध्यक्षो देव द्वार्यवतिष्ठति ।
काङ्क्षत्यब्जमिवाऽर्कस्य देवदेवस्य दर्शनम् ॥ २६ ॥

राजोवाच

गच्छाऽविलम्बितं तावदेनमेव प्रवेशय ।
जानीमः किं दिगन्तेषु वृत्तं वृत्तान्तसंश्रवात् ॥ २७ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त उत्तराशेशं प्रतिहारप्रवेशितम् ।
प्रणामपरमग्रेऽसौ राजाऽपश्यद् बलाधिपम् ॥ २८ ॥
क्षतविक्षतसर्वाङ्गमङ्गमङ्गेषुसंततम् ।
श्वासाकुलं वमद्रक्तं धैर्येणाऽबलनिर्जितम् ॥ २९ ॥
स प्रणम्य त्वरायुक्तमुवाचेदमुपक्रमम् ।
संस्तभ्याऽङ्गव्यथामाशु संततोच्छ्वासमुच्छ्वरान् ॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भय-चकित राजा त्वरापूर्वक यह सब कह ही रहा था कि द्वारपालने घबराहटके साथ प्रवेश कर प्रणामपूर्वक राजासे यह कहा ॥ २५ ॥

द्वारपाल बोला—महाराज, उत्तर दिशाका सेनाधिपति ड्योढ़ीपर खड़ा है जैसे कमल सूर्यके दर्शनोंकी आकाङ्क्षा करता है वैसे ही महाराजाधिराजके (आपके) दर्शन चाहता है ॥ २६ ॥

राजाने कहा—जाओ, बहुत जल्द ही उसे प्रवेश कराओ, उसके मुँहसे वृत्तान्तके भली भाँति श्रवणसे दिगन्तोंमें क्या घटना घटी यह जानेंगे ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राजाके यह कहनेपर द्वारपाल द्वारा भीतर प्रवेशित सेनाध्यक्ष उत्तर दिशाके अधिपतिको राजाने प्रणाम करते देखा, उसके संपूर्ण अङ्ग क्षत-विक्षत थे, प्रत्येक अवयवमें बाण व्याप्त थे, सांस जोरसे चल रही थी, निर्बल

बलाध्यक्ष उवाच

देव त्रयोऽपि दिक्पाला बलेन बहुना सह ।
त्वदाज्ञयेव निर्जेतुं यमं यमपुरं गताः ॥ ३१ ॥
तद्देशपालनाद्यर्थमशक्तं मामिमं ततः ।
अनुद्रवन्तो बहवो भूपाः प्राप्ता बलादिह ॥ ३२ ॥
महत्परबलं प्राप्तमिदं देवस्य मण्डलम् ।
विधीयतां तथाप्राप्तं न देवस्याऽस्ति दुर्जयम् ॥ ३३ ॥

वसिष्ठ उवाच

अथ तस्मिन् वदत्येवमार्तिमत्याजिविक्षते ।
सहसैवाऽभ्युवाचेदं प्रविश्य पुरुषोऽपरः ॥ ३४ ॥
पुरुषा मण्डलस्याऽस्य विपुला दललीलया ।
स्थितान्यखिलान्युच्चैश्चतुर्दिक्कं नरेश्वर ॥ ३५ ॥
कचचक्रगदाप्रासकुन्तकाननकान्तिभिः ।
वलिता नोऽरिभिर्भूमिर्लोकालोकतटैरिव ॥ ३६ ॥
पताकायुधयोग्रङ्गाश्चलत्परिक्राकुलाः ।
विसरन्ति रथास्तत्र प्रोड्डीनत्रिपुरौघवत् ॥ ३७ ॥

होनेके कारण वह शत्रु द्वारा जीता गया था। उसने धीरतासे देहव्यथा सहनकर लगातार साँस लेते हुए प्रणामपूर्वक राजासे जल्दी जल्दी ये वाक्य कहे ॥ २८-३० ॥

सेनाधिपतिने कहा—राजन्, तीनों दिक्पाल बहुत बड़ी सेनाके साथ मानो आपकी आज्ञासे यमको जीतनेके लिए यमपुर चले गये हैं, तदनन्तर उनके देशोंका परिपालन करनेमें अशक्त मेरा पीछा कर रहे बहुतसे राजा यहाँ जबर्दस्ती पहुँचे हैं। आपके मण्डलमें शत्रुओंकी यह बड़ी भारी सेना प्राप्त हुई है, सो हमारी पराजित सेनाकी जैसी दुर्दशा इन लोगोंने की है वैसी ही इनकी दुर्दशा कीजिये आपके लिए कुछ भी दुर्जय नहीं है ॥ ३१-३३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—इसके बाद युद्धभूमिमें क्षतविक्षत शरीरवाले अतएव पीड़ित उत्तरदिशाधिपति यह कह ही रहे थे इतनेमें दूसरे आदमीने प्रविष्ट होकर राजासे यह कहा—महाराज, इस मण्डलके लोग पीपलके पत्तोंकी-सी कँपकँपीसे विशाल बन गये हैं, चारों ओर शत्रुओंकी सेनाएँ प्रचुर मात्रामें व्याप्त हैं। शत्रुओंने लोकालोक तटोंकी तरह

करानुन्नामयन्तः खे मांसवृक्षवनोपमाः ।
बृंहन्ति वारणव्यूहा वर्षावारिदवृन्दवत् ॥ ३८ ॥

नतोन्नतानि कुर्वन्तः स्पन्देनोर्वीनतोन्नतैः ।
हेषन्ते हयसंघाता वातस्पन्दमहाब्धिवत् ॥ ३९ ॥

रसन्ति तुरगापूराः फेनिलावर्तपातिनः ।
सर्वतो वलयाकारा लवणार्णववारिवत् ॥ ४० ॥

आकाशकान्तिसन्नाहैर्दिशं प्रति बलं बलम् ।
उदेत्यलघुकल्लोलैः प्रलयार्णवपूरवत् ॥ ४१ ॥

शरास्त्रशस्त्रसन्नाहमुकुटाभरणत्विषः ।
कचन्ति त्वत्प्रतापाग्नेर्ज्वाला इव तदङ्गगाः ॥ ४२ ॥

हमारी भूमि घेर ली है, उनके खड्ग, गदा, प्रास और भालोंके समूहोंकी कान्ति चमक रही है। पताका, शस्त्रास्त्र और योद्धाओंसे भरे हुए चञ्चल और सुन्दर सम्पूर्ण सामग्रीवाले रथ इधर उधर चल रहे हैं। वे उड़े हुए त्रिपुरासुरके नगरोंके समूहसे प्रतीत होते हैं ॥ ३४ ३७ ॥

वर्षा ऋतुके मेघोंके सदृश हाथियोंके झुण्ड, जो मांसके वृक्षोंसे भरे वनके तुल्य हैं, आकाशमें सूड़ोंको उठाते हुए चिंघाड़ रहे हैं ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके झुण्ड, जो गतिके क्रमसे पृथिवीकी समता, विषमताकी नाईं समता विषमता कर रहे हैं, वायुसे आन्दोलित महासागरकी भाँति हिनहिना रहे हैं ॥ ३९ ॥

क्षीरसागरके जलके समान फेनयुक्त आवर्तोंकी (जलभ्रमियोंकी) भाँति इधर-उधर वृत्ताकार घूम रहे घोड़ोंके वृन्द शब्द करते हैं ॥ ४० ॥

जैसे प्रलयकालके सागरका प्रवाह बड़े बड़े ज्वार भाटोंसे प्रत्येक दिशामें प्रकट होता है वैसे ही आकाशके समान स्वच्छ कान्तिवाले कवच शस्त्रास्त्रोंसे युक्त सेना भी प्रत्येक दिशामें प्रकट होती है ॥ ४१ ॥

योद्धाओंके शरीरपर लगे हुए बाण, अस्त्र-शस्त्र, कवच, मुकुट और आभरणोंकी कान्तियाँ आपके प्रतापाग्निकी ज्वालाकी भाँति विकसित होती हैं ॥ ४२ ॥

समत्स्यमकरव्यूहाः सचक्रावर्तवृत्तयः ।
उद्यन्ति सैन्यसंघट्टाः कल्लोला जलधेरिव ॥ ४३ ॥

परस्परपरामर्शात्कुन्ताद्यायुधपङ्क्तयः ।
कोपादिवोग्रहुँकारैर्ज्वलन्ति विरटन्ति च ॥ ४४ ॥

इति कर्तुमहं देव विज्ञप्तिं स्वामिनेरितः ।
तस्मान्मण्डलसीमान्तगुल्माद्युद्धाय गच्छता ॥ ४५ ॥

तमहं देव गच्छामि शक्त्यृष्टिशरसंगतः ।
मयेहाऽऽवेदितं सर्वं देवो जानात्यतः परम् ॥ ४६ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वाऽथ प्रणामं च स कृत्वा त्वरया ययौ ।
कृत्वा गुलगुलारावं शान्तो वीचिरिवाऽम्बुधेः ॥ ४७ ॥

जैसे मछली और मगरोंके समूहसे युक्त चक्राकार जलभ्रमिवाले कल्लोल सागरसे आविर्भूत होते हैं वैसे ही मत्स्य, मकरकीसी आकृतिवाले व्यूहोंसे युक्त, तलवारोंके आवर्तसे युक्त सेनासंघात आविर्भूत हो रहा है ॥ ४३ ॥

भाले आदि हथियारोंकी श्रेणियाँ परस्पर टकरानेके कारण मानो क्रोधवश भीषण हुंकारोंसे जलती हैं और कठोर शब्द करती हैं ॥ ४४ ॥

उस मण्डलकी सीमामें स्थित छावनीसे युद्धके लिए जाते हुए स्वामीने यह निवेदन करनेके लिए श्रीमानके समीप मुझे भेजा है ॥ ४५ ॥

महाराज, शक्ति, ऋष्टि और बाणोंसे युक्त मैं जिन्होंने मुझे आपके पास भेजा था उन स्वामीके समीप जाता हूं, मैंने यहाँ आकर सब निवेद्य आपकी सेवामें निवेदन कर दिया, इसके उपरान्त आप जानें ॥ ४६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा–श्रीरामचन्द्रजी, गुड़ गुड़ शब्द करके विलीन हुई समुद्रकी लहरके समान वह पुरुष राजासे यह निवेदन कर प्रणामपूर्वक शीघ्रतासे चला गया ॥ ४७ ॥

संभ्रान्तमन्त्रिनृपयोधनियोगिनाग-
नारीरथाश्वपरिचारकनागरौघम् ।
राज्ञो गृहं स्वभयतोलितहेतिसार्थं
चण्डानिलाकुलमहावनतुल्यमासीत् ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गतविपश्चिदुपा० अविद्याक्षेपणे पार्थिवसंरम्भवर्णनं नामाऽष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥

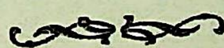
नवाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे सर्वे मन्त्रिणो नृपमाययुः ।
मुनयो वासवमिव दैत्याक्रान्तनभोभुवम् ॥ १ ॥

राजाके प्रासादमें खलबली मच गई, उसकी अवस्था आँधीसे व्याकुल महावनकी-सी हो गई । मन्त्री, राजा, योद्धा, राजाके आज्ञाकारी कर्मचारी, स्त्रियाँ, हाथी, घोड़े, परिचारक और नागरिक सबके सब भयभीत हो गये । सभी जीवोंने अपने प्राणोंके भयसे अपने अपने बचावके साधन हथियार उठा लिये ॥ ४८ ॥

एक सौ आठ सर्ग समाप्त ।



एक सौ नौ सर्ग

[मन्त्रियोंकी सलाहसे राजाका अपने शरीरका होम करना, तदुपरान्त अग्निसे चार शरीरोंसे युक्त राजाका प्रकट होना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्रजी, जैसे मुनिगण इन्द्रके, जिसके भूलोक और अन्तरिक्षलोकपर दैत्य आक्रमण कर चुके, समीप आते हैं वैसे ही सब मन्त्री राजाके समीप आये ॥ १ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

देव निर्णीतमस्माभिर्यावन्न विषयोऽरयः ।
त्रयाणामप्युपायानां दण्डस्तेषु विधीयताम् ॥ २ ॥
प्रणयोऽनुप्रवेशो वा न कदाचन यः कृतः ।
अधुना तेषु तं देव कुर्यात्तेषु कथैव का ॥ ३ ॥
पापा म्लेच्छा घनाढ्याश्च नानादेश्याः सुसंहताः
बहवो लब्धरन्ध्राश्च सामादेर्नाऽऽस्पदं द्विषः ॥ ४ ॥
तत्सुसाहसमेवेदं वर्जयित्वा प्रतिक्रिया ।
नान्याऽस्ति शीघ्रमेवाऽतो रणोद्योगो विधीयताम् ॥ ५ ॥
वीराणां दीयतामाज्ञा पूज्यन्तामिष्टदेवताः ।
आहूयन्तां च सामन्ता हन्यतां रणदुन्दुभिः ॥ ६ ॥

मन्त्रियोंने कहा—महाराज, हमने सब विचार कर निश्चयकर लिया है। शत्रु साम, दान और भेद—इन तीन उपायों द्वारा काबूमें आने लायक नहीं है, अतः उसपर दण्डका विधान कीजिये ॥ २ ॥

महाराज, दान, संमान आदिसे स्नेह और अनुप्रवेश (अपने पक्षवालोंका ही शरणागतिके बहाने काकोलूकीयन्यायसे उनके विनाशके लिए उनके देशमें प्रवेश), जिसका आजतक कभी उनके लिए प्रयोग नहीं किया गया, इस समय उन शत्रुओंपर प्रेम और अनुप्रवेशरूप कीर्ति हरनेवाले उपाय किये जायँ, इसकी कथा ही क्या है ।

जिनपर थोड़ा बहुत विश्वास किया जा सके और जिनको द्रव्यकी कमी हो उनपर साम, दान आदि उपायोंकी गुंजायश है, किन्तु ये शत्रु तो ऐसे नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—पापाः इत्यादिसे ।

पापी, सीमाप्रान्तके निवासी, प्रचुरधनसम्पन्न, विविधदेशीय, सुसंगठित, हमारी कमजोरीको जाननेवाले बहुतसे शत्रु साम, दान उपायोंके योग्य नहीं हैं ॥ ४ ॥

इसलिए इनके विषयमें साम-दानका प्रयोग करना अत्यन्त सुसाहस है (अविचारित कार्य है) इसका परित्याग कर शीघ्र ही युद्धका उद्योग कीजिये । इनके प्रतिकारका दूसरा उपाय है ही नहीं ॥ ५ ॥

वीरोंको युद्धके लिए आज्ञा दीजिये, इष्ट देवताओंका जप-पूजन आदि अनुष्ठान कीजिये, सामन्तोंका आह्वान कीजिये और रणभेरियाँ बजाई जायँ ॥ ६ ॥

सन्नह्यन्तामशेषेण निर्गच्छन्तु रणे भटाः ।
क्रियन्तां कालकल्पाभ्रमेदुराराजिता दिशः ॥ ७ ॥
आस्फाल्यन्तां धनूंष्युच्चैः क्वणन्तु गुणपङ्क्तयः ।
भवन्तु जलदश्यामाः ककुभः खण्डमण्डलैः ॥ ८ ॥
स्फुरज्ज्याविद्युतः शूरवारिदा घनगर्जिताः ।
नाराचधारा मुञ्चन्तु कचत्कोदण्डकुण्डलाः ॥ ९ ॥

राजोवाच

गम्यतां सङ्गरायाऽऽशु संविधानं विधीयताम् ।
स्नात्वाऽहं पूजयित्वाऽग्निं निर्गच्छामि रणाजिरम् ॥ १० ॥
इत्युक्त्वा नृपतिः स्नातो महारम्भोऽपि स क्षणात् ।
प्रावृषीव नवोद्यानं गङ्गाजलधरैर्घटैः ॥ ११ ॥
अथ प्रविष्टोऽग्निगृहं पूजयित्वा हुताशनम् ।
आदरेण यथाशास्त्रं चिन्तयामास भूमिपः ॥ १२ ॥

सब योद्धाओंको कवच आदिसे सुसज्जित कीजिये युद्धका बाना पहनाइये, तदुपरान्त वे सबके-सब युद्धके लिए प्रस्थान करें और दिशाओंको गजघटाओंसे काले काले प्रलयमेघोंसे जैसे पाट दीजिये ॥ ७ ॥

धनुष खूब (कानों तक) ताने जाँय, प्रत्यञ्चाएँ टंकार करें, अर्धमण्डलाकार धनुषोंसे दिशाएँ मेघश्यामला हों, धनुषरूपी कुण्डलोंसे देदीप्यमान गम्भीर सिंहनादवाले शूरवीररूपी मेघ, जिनमें प्रत्यञ्चारूपी बिजली कौंध रही है, बाणरूपी जलधाराओंको बर्षावें ॥ ८, ९ ॥

राजाने कहा—संग्रामके लिए शीघ्र प्रस्थान कीजिये । नगररक्षा, व्यूहरचना आदिकी व्यवस्था कीजिये । मैं भी स्नानके उपरान्त अग्निदेवकी पूजा कर संग्राम-भूमिमें आता हूँ ॥ १० ॥

ऐसा कहकर आवश्यक अन्यान्य कार्योंके रहते भी (अत्यावश्यक अन्यान्य कार्योंको छोड़कर भी) राजाने एक क्षणमें जैसे वर्षाऋतुमें नूतन बगीचा मेघ द्वारा स्नान करता है वैसे ही गङ्गाजलसे भरे हुए घड़ोंसे स्नान किया ॥ ११ ॥

स्नान करनेके उपरान्त राजाने अग्निगृहमें प्रवेश किया और विधिपूर्वक श्रद्धासे अग्निकी पूजाकर निम्नलिखित बातोंपर विचार किया ॥ १२ ॥

नीतमायुरनायासविलासविभवश्रिया ।
प्रजाभ्यो दत्तमभयमासमुद्रसमुद्रितम् ॥ १३ ॥
आक्रान्तवसुधापीठाः पादपीठे कृता द्विषः ।
लता फलभरेणेव नमिताः ककुभो दश ॥ १४ ॥
प्रजाचित्तेन्दुबिम्बेषु लिखितं धवलं यशः ।
भूमावारोपिता कीर्तिलता त्रिपथगामिनी ॥ १५ ॥
कोशवद्भरिता रत्नैः सुहृन्मित्रार्यबन्धवः ।
निपीतोऽर्णवतीरेषु नालिकेररसासवः ॥ १६ ॥
द्विषामाकम्पिता भेकगलाङ्गत्वगिवासवः ।
मच्छासनाङ्किता जाता द्वीपान्तरकुलाचलाः ॥ १७ ॥
विहृतं सिद्धसेनासु दिगन्तनवभूमिषु ।
भूम्यन्तभूभृतां मूर्ध्नि विश्रान्तं मेघलीलया ॥ १८ ॥
धियेवोच्चैः पदे ज्ञानपूर्णयैकान्तशीलया ।
विलब्धान्यविनष्टानि राष्ट्रानीष्टार्थकारिणा ॥ १९ ॥

मैंने अनायास विलासविभवपूर्ण सम्पत्तिसे आयु व्यतीत की, समुद्रपर्यन्त शासन-मुद्रापूर्वक अपनी सारी प्रजाको अभयप्रदान किया । पृथ्वीपर आक्रमण करनेवाले शत्रुओंको चरणोंपर नवा डाला । जैसे लताएँ फलोंके बोझसे नत हो जाती हैं वैसे ही कर आदि फलके भारसे दसों दिशाओंको मैंने नवा दिया ॥ १३, १४ ॥

प्रजाके चित्तरूपी चन्द्रबिम्बोंमें अपना शुभ्र यश भर दिया, भूमिमें तीनों लोकोंमें फैलनेवाली कीर्तिरूपी लता लगा दी ॥ १५ ॥

सुहृत्, मित्र पूज्य ब्राह्मण (गुरुवर्ग) और बन्धुबाधवोंको विविध रत्नोंसे खजानेके समान भर दिया, समुद्रके किनारे नारिकेलरसका आसव छक कर पीया ॥ १६ ॥

शत्रुओंके प्राणोंको मेढककी गर्दनकी त्वचाके समान खूब कँपा डाला, द्वीप-द्वीपान्तरके कुल कुलपर्वतोंपर मेरे शासनकी छाप लग चुकी ॥ १७ ॥

दिगन्तोंमें प्रसिद्ध अपूर्व सुवर्णभूमियोंमें, जो सिद्धसेनाओंसे पूर्ण हैं, मैंने खूब विहार किया, लोकालोकपर्वतपर्यन्त पर्वतोंके और सीमाप्रान्तवर्ती राजाओंके सिरपर मेघोंकी लीलासे विश्राम किया और पैर रक्खा ॥ १८ ॥

जैसे ज्ञानपूर्ण एकान्तमें समाधि लेनेवाली बुद्धिसे परमोच्च ब्रह्ममें विश्राम

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्म की उन्नति करनेवाले भगवान् श्री शङ्कराचार्यके सिद्धान्तके अविरोधी लेखों एवं उत्तमोत्तम संस्कृत-ग्रन्थोंके भाषानुवाद द्वारा जनता में ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारतके लिए ६) रु० और विदेशके लिए ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डर द्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मँगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिए।

(५) उत्तरके लिए जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिए।

व्यवस्थापक—

अच्युत-ग्रन्थमाला कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 276

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

प्रकाशक—व्यवस्थापक, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।
मुद्रक—वी० के० शास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काशी ।